सम्बोधि

ध्यान विशेषांक

ध्यान



किसने क्या कहा ?

सम्बोधि पब्लिकेशन

सम्बोधि

(मासिक विज्ञप्ति)

वर्ष – 1 नवम्बर–दिसम्बर 2001, अंक 6

(प्रथम विशेषांक)

सम्पादक

◆ समण श्रुतप्रज्ञ

◆ समणसिद्धप्रज्ञ

प्रकाशक

संबोधि प्रकाशन

संबोधि उपवन ट्रस्ट

संबोधि साधना परिषद्

पोस्ट – टाड़ावाड़ा गुजरान

वाया – चारभुजा – 3133 33

जिला – राजसमन्द (राज.)

दूरभाष – 02952 - 76014

E-mail - sambodhi@yahoo.com

आमन्त्रण मूल्य . 20/-

ध्यान विशेषांक
(किसने क्या कहा ?)

अनुक्रम

शुभाशंसा

कितना अच्छा है अकेला रहना अनेक में भय होता है। एक में भय नहीं होता। अलग–अलग अवधारणाएं और अलग–अलग परिस्थितियाँ है। कुछ मनुष्य अकेले में सुखी रहते हैं, अनेक के साथ दुःखी बन जाते हैं। कुछ अनेक के साथ सुखी रहते हैं, अकेले में दुःखी बन जाते हैं। अकेलेपन का रहस्य समझ में आ जाए तो सुख–दुःख की कल्पना ही बदल जाए। जिसमें राग, द्वेष, मोह और आसक्ति प्रबल है, वह हिमालय की गुफा में बैठकर भी अकेला नहीं होगा। जिसके राग–द्वेष आदि उपशान्त हैं वह महानगर के वातावरण में रहकर भी अकेला रहता है। उसके लिए ध्यान की साधना आवश्यक है।



ध्यान की तीन भूमिकाएं हैं – अनुशासन, संयम और संवरा अनुशासन की प्रथम भूमिका में साधक दूसरों के सहारे चलता है। दूसरों के आदेश–निर्देश के आधार पर गति करता है। इसमें व्यक्ति की इच्छा गौण एवं गुरु की आज्ञा प्रमुख होती है। संयम की दूसरी भूमिका में किसी के आदेश की अपेक्षा नहीं रहती। यहां व्यक्ति का अपना आत्म–नियंत्रण शुरू हो जाता है। तीसरी संवर की भूमिका में आत्मशुद्धि होती है। इसमें न दूसरों का नियंत्रण रहता है और न अपना नियंत्रण। संवर की भूमिका तक पहुंचने के लिए साधक को बहुत साधना करनी पड़ती है। साधना के बहुआयामी प्रयोग इसमें सम्मिलित हैं।

संबोधि और शांति को विभक्त नहीं किया जा सकता। जहां संबोधि है, वहां शांति अनिवार्य है। जहां शांति है वहां संबोधि की अनिवार्यता है। जिसका मस्तिष्क संबोधि से भावित है, वही व्यक्ति शांति को उपलब्ध हो सकता है। मैं संबोधि उपवन साधना केन्द्र को एक अच्छे साधना केन्द्र के रूप में विकसित होता देखना चाहता हूँ।

– आचार्य महाप्रज्ञ

भूमिका



कुछ व्यक्ति राष्ट्र, देश और समाज के लिए शहीद होते है, तथा कुछ आत्मा के लिए। शहीद होने का अर्थ है – अमर हो जाना। यह अमरत्व दो प्रकार का होता है – एक जिनका नाम राष्ट्र, समाज व देश के इतिहास में चिरअंकित हो जाता है और दूसरे प्रकार के शहीद सदा–सदा के लिए संसार के आवागमन से मुक्त हो जाते है। उनका नाम अध्यात्म–जगत में ध्रुव तारे की तरह अचल हो जाता है।

दोनों ही प्रकार के शहीदों में खुमारी होती है– अपने–अपने उद्देश्य सिद्धि की। अध्यात्म के प्रति जिनके मन में अटल आस्था होती है, वे स्वयं तथा परमात्मा के प्रति पूर्णतः समर्पित हो जाते हैं। उनमें अपना कुछ नहीं रहता। वे उस समर्पण भाव से संबोधि को उपलब्ध हो जाते है। संबोधि में आस्था का अर्थ है – संसार से विरक्ति और आत्मा से अनुरक्ति। मोह से मुक्ति–बाह्य जगत के संबंधों व पदार्थों का विसर्जन तथा निज–बोध, निज स्वरूप का जागरण। शरीर और आत्मा के अद्वैत को तोड़कर "शरीर पृथक है, मैं पृथक हूं– इस सत्य से चिरपरिचित होना, अहंता और ममता से मुक्त होना। बस, जो कुछ है वह आत्मा है, परमात्मा है। एक तू ही तू– मैं का मिट जाना, यथार्थ मैं का व्यक्त हो जाना, प्रभुमय या ईश्वरमय हो जाना।

"संबोधि" का यह "ध्यान विशेषांक" आपको उस जगत की सैर करायेगा, उन शहीदों से परिचित करायेगा और उनके अमर वचनों का आस्वादन करायेगा, जिनका स्वाद उन्होंने चखा है। "अब हम अमर भये न मरेंगे, सखिचार वा धर की महिमा न्यांरी, मेरे तो एक गिरधर गोपाल, अंखियां दर्शन की प्यासी, नारायणनुं नाम लेतां, वारे तेने तजिये रे, दुलहा दुलहिन मिल गए, फीकी पड़ी बरात, शूली ऊपर सेज पिया की, तू घटके पट खोल, तोय पीया मिलेंगे," आदि वाक्यों के अन्तः स्थल में छिपे रहस्यो में आप खोते जायेंगे। यह भी आपको ज्ञात होता जाएगा कि आत्म–तत्व की अनुभूति कठिन नहीं, अति–सहज है। सहज को असहज समझ रखा है। यह केवल एक मिथ्या भ्रम है।

असहज कभी सहज नहीं होता और सहज कभी असहज नहीं होता। यह केवल अज्ञान है। स्वभाव कैसे अस्वभाव बनेगा, जल कभी उष्णता को नहीं अपना सकता और अग्नि कभी शीतलता को।

संतों, महापुरुषों, कवियों और अनुभव द्रष्टाओं के बिखरे जीवन तथा पृथक–पृथक संग्रहीत वचनों को एक स्थान पर कुछ संकलित करने का प्रयास किया है– समण सिद्धप्रज्ञ व समण श्रुतप्रज्ञ ने। अभी बहुत शेष है। यह प्रयास कैसा रहा ? यह पाठकों की समीक्षा से ज्ञात होगा।

सत्पुरुषों, आप्तजनों के अमर उद्‌बोधन से यदि किसी व्यक्ति में अमरत्व की ललक पैदा होगी और अमरत्व की दिशा में चरण गतिमान होंगे तो यह भौतिकवाद पर विजय पताका फहराने का कार्य होगा।

इस आयास के श्रेयोभागी हैं – आचार्य श्री महाप्रज्ञजी। जिनके आध्यात्मिक उच्छ्‌वासों की परिमल ने सुषुप्त चेतना को सुरभित किया, नव प्राण फूंके और एक नई जीवन शैली को निर्मित किया।

संबोधि उपवन
22.11.2001

- मुनि शुभकरण

सम्पादकीय



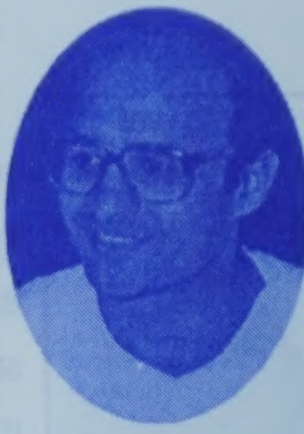
आज के आधुनिक आदमी के लिए जितनी आवश्यकता रोटी, कपड़ा और मकान की है, उतनी ही आवश्यकता ध्यान की है। एक समय था जब ध्यान केवल योगी–महात्माओं तक सीमित था। आज समस्या संकुल युग में प्रत्येक व्यक्ति के लिए योगी बनना अनिवार्य जैसा हो गया है। क्योंकि हर छोटे–बड़े व्यक्ति के जीवन में तनाव है, जटिलताएं है, परेशानियाँ है। चित्त की यह तनावपूर्ण स्थितियाँ ध्यान के लिए पृष्ठ भूमि का निर्माण करती है।

यदि स्वास्थ्य चाहिए तो ध्यान परम औषधि है। यदि शांति चाहिए तो ध्यान की जीवन शैली ही एकमात्र विकल्प है। यदि आत्मिक अनुभूति चाहिए तो ध्यान ही सुगमतम मार्ग है। ध्यान का किसी भी धर्म–सम्प्रदाय से कोई संबंध नहीं है। इन वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग कोई भी, कहीं भी कर सकता है और उनसे होने वाले लाभों से जीवन को आनंदमय बना सकता है।

प्रत्येक युग में ध्यान की विधियाँ एवं स्वरूप बदलते रहे है। क्योंकि ध्यान के प्रयोग व्यक्ति, वातावरण, परिस्थितियां एवं आवश्यकता के आधार पर निर्धारित होते हैं। ध्यान के नियमित अभ्यास से उपाधि के स्थान पर समाधि, आधि के स्थान पर शांति एवं व्याधियों के स्थान पर आरोग्य को प्राप्त किया जा सकता है।

ध्यान–योगी मुनि शुभकरणजी स्वामी ध्यान के जरिये निरंतर अपनी आत्मा की उपासना में लगे हुए है। जिज्ञासु साधकों के चित्त में ध्यान की सम्यक् समझ जाग्रत हो उस हेतु आप साधकों का मार्गदर्शन भी कर रहे है। उनकी करुणा के कारण "सम्बोधि" उपवन के सातवें वर्ष के प्रवेश के उपलक्ष में "ध्यान विशेषांक" का प्रकाशन करने की कल्पना उद्भूत हुई।

मुनि श्री की पावन दृष्टि से इस दुलर्भ अंक के सम्पादन के निमित्त बनने का हमें सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह हमारा प्रथम प्रयास है। इस अंक में हमने विश्व के विशिष्ट ध्यान योगियों एवं साधकों की ध्यान विधियों एवं अनुभूतियों का संकलन किया है। ध्यान में रूचि रखने वाले प्रत्येक साधकों के लिए अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ध्यान विधियाँ इसमें सम्मिलित है। ध्यान में रूचि रखने वालों के लिए यह अंक इसलिए भी सार्थक है कि एक साथ बहुत सारी ध्यान विधियां इसी एक अंक में "ध्यान : किसने क्या कहा ?" में उपलब्ध हो जाएगी। इस ध्यान विशेषांक की खास विशेषता यह है कि इसमें प्राचीनतम ध्यान योगी आदिनाथ, ऋषभदेव, गोरखनाथ, पतंजलि से लेकर आज के नवीनतम ध्यान पद्धति के रूप में विकसित विपश्या, प्रेक्षाध्यान भावातीत ध्यान आदि विधियों का सुन्दर समन्वय किया गया है।



इस अंक में आपको दैनिक जीवन–व्यवहार से लेकर आत्म–साक्षात्कार तक की विधियों एवं प्रक्रियाओं को जानने एवं जीने के अमूल्य सूत्र एवं प्रयोग आसानी से उपलब्ध हो जाएंगे। सामग्री के अभाव के कारण कुछ विशिष्ट योगियों के विचार यहां प्रस्तुत करने में हम असक्षम रहे हैं। प्रेक्षाध्यान प्रणेता आचार्य महाप्रज्ञजी के मंगल संदेश से यह ध्यान विशेषांक स्वयं प्राण–प्रतिष्ठित हुआ है। हमें सर्वाधिक प्रसन्नता है कि इस अमूल्य अंक के सम्पादन कार्य में मुनि श्री शुभकरणजी स्वामी ने हमें निमित्त बनाया। इस अंक का प्रकाशन सम्बोधि उपवन की एक विशिष्ट उपलब्धि मानी जाएगी, ऐसा हमारा विश्वास है। इस अंक के प्रकाशन में सहयोगी रहे हैं – समण स्थित प्रज्ञजी, श्रीमान पवनकुमारजी गेलड़ा श्री संजय भंसाली एवं श्रीमान् महेन्द्रजी कोठारी। सम्बोधि उपवन उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है।

सम्बोधि उपवन | **समण श्रुतप्रज्ञ**
22.11.2001 | **समण सिद्धप्रज्ञ**

प्रेक्षा क्या और क्यों ?

प्रेक्षा शब्द बुद्धि का पर्यायवाची है। उसका एक अर्थ यह है, वहाँ दूसरा अर्थ सघनता के साथ देखना–निरीक्षण करना भी है। दोनों भिन्न–भिन्न दिखाई देने पर भी भिन्न नहीं है। सूक्ष्मता में एक है, स्थूलता में भिन्न है। स्थूलता में सभी भिन्न है किन्तु सूक्ष्मता में एक है। सघनता के साथ देखने का अर्थ होगा, वस्तु के स्वरूप का यथार्थ अनुभव उसका यथार्थ निर्णय। यह निर्णय करने वाली बुद्धि है, अतः बुद्धि को निश्चयात्मक कहा है। "बुद्धेः फलं तत्व विचारणा च" बुद्धि की उपयोगिता तत्व के विचार व निर्णय में है। यह कथन भी इसी बात को संपुष्ट करता है।

ध्यान के साथ प्रेक्षा को योजित करने का अर्थ भी यही है कि सत् और असत् ध्यान का निश्चय किया जाए कि कौनसा उपादेय है और कौनसा हेय है। हेय को छोड़कर अन्हेय को स्वीकार किया जाए। प्रेक्षा का यही कार्य है। उपादेय की दिशा में गति होने से बुद्धि की सार्थकता है।

बुद्धि के द्वारा अनेक कार्य विहित होते हैं। निर्माण भी उसके द्वारा होते हैं और विध्वंस भी वह समाज, देश, राष्ट्र और विश्व के विकास में भी अपना योगदान करती है। उसने ही विनाशात्मक वातावरण को रचा है, कुछ लोग उसके द्वारा रचनात्मक भूमिका भी निर्मित कर रहे हैं। दोनों ही कर्त्तव्यों के पीछे प्रेक्षा की नितान्त अपेक्षा है। जैसे ही प्रेक्षा का संयोजन होगा हेय, अशुभ तथा नेगेटिव भाव परित्यक्त हो जाएगा। सकारात्मक कार्य के साथ बुद्धि का योग होने से उस कार्य में एक दिव्यता प्रविष्ट होगी, वह तत्व–बोध से अनुप्रमाणित हो जाएगा। उसमें एक नई रोशनी प्रकट होगी। भगवान महावीर, महात्मा बुद्ध, ईसा मसीह, मोहम्मद साहब, कबीर, रामकृष्ण, विवेकानंद, नानक आदि के कार्य इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। उन्होंने बहुत कुछ दिया वह शाश्वत दिया। वह अपरिवर्तनीय और अकाट्य है। क्योंकि उनके देने के पीछे कोई स्वार्थ नहीं था और न किसी के साथ कोई अनुबंध था। उन्हें तो सिर्फ देना था। प्रेक्षा ने उन्हें शुभ–अशुभ दोनों से मुक्त कर दिया था।

प्रेक्षा और प्रेक्षाध्यान प्रत्येक व्यक्ति के लिए करणीय है। क्योंकि व्यक्ति में अशुभ अंश अधिक है। शुभ अंश कम है। शुभ अंश में भी स्वार्थ आदि भावों की दुर्गन्ध हो, ऐसा नहीं है। उनमें भी अहंकार आदि की बू मौजूद रहती है। कार्यकर्ता भी इनसे मुक्त मिलने असंभव जैसे है। इसका कारण है – वे प्रेक्षा से संबलित नहीं है। उनके जीवन में प्रेक्षा का प्राणतत्व प्रवाहित नहीं है। प्रेक्षा को वे आत्मा के साथ नहीं जोड़ते हैं। इसलिए जीवन का यथार्थ आनंद, सुख, शांति उन्हें प्राप्त नहीं है। श्रद्धा व आत्म विश्वास के साथ यदि प्रेक्षा को जोड़ा जाए तो यह असंदिग्ध हैं कि प्रेक्षा उनके जीवन से अशुभांश का मूलोच्छेद तो करेगी ही साथ–साथ शुभ को भी आसक्ति मुक्त कर देगी। इससे सहज ही "मैं चैतन्य मय हूँ, मैं आनन्दमय हूँ आदि दिव्य गुणों का स्वतः प्रस्फुटन होगा। प्रेक्षा की परिक्रमा की यही सिद्धि है।

- मुनि शुभकरण

योग से ब्रह्म में विरह होता है,
शक्ति का ऊर्ध्वारोहण होता है।
ओज में परिणमन होता है।
यही है ब्रह्मचर्य।
सद्गुणों में वर्य।
अनुपम सौंदर्य।
मनुष्यत्व का श्रृंगार,
ब्रह्म का आधार,
निर्विकार, निर्विचार, ईश्वर का आकार

1. जैन दर्शन में ध्यान

शब्द शाश्वत नहीं होता, अर्थ शाश्वत होता है। शब्द बदलते रहते हैं, भाषा बदलती रहती है, किन्तु तात्पर्य कभी नहीं बदलता। जो है वह रहता है। उसके लिए समय–समय पर नए–नए शब्दों का सृजन करना होता है और भाषा में परिवर्तन होता रहता है।

योग के प्रवर्तक :-

प्रश्न है – प्रेक्षा शब्द कितना पुराना है ? यह महावीर जितना पुराना तो है ही। उससे भी आगे यह शब्द रहा है या नहीं ; नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसका अर्थ बहुत पुराना है। अर्थ की दृष्टि से विचार करें तो हम ऋषभ तक पहुंच जाते हैं। भगवान ऋषभ पहले पुरूष हुए है जिन्होंने आत्मवाद का प्रवर्तन किया, योग साधना का मार्ग बतलाया। हठयोग में आदिनाथ को नमस्कार किया गया है, जिन्होंने योग का प्रवर्तन किया।



"आदिनाथ नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।"

आदिनाथ ऋषभ हैं। कुछ लोग कहते है – शिव है। शिव है तो आदिनाथ है और आदिनाथ है तो शिव है। आज मान लिया गया – आदिनाथ–ऋषभ और शिव– ये कोई व्यक्ति नहीं है। आदिनाथ ऋषभ योग के प्रवर्तक है। हिरण्यगर्भ है आदिनाथ, जिन्होंने योग का प्रवर्तन किया, ध्यान मार्ग का प्रवर्तन किया।

पार्श्व भरत :-

प्रेक्षा का मूल स्रोत है आदिनाथ ऋषभ। एक घटना है – भरत ने स्नान किया। स्नान कर भवन में बैठे। वह आदर्श भवन था। पूरा शीशे का बना हुआ भवन था। आसन पर बैठ गए। सामने दर्पण था। उसमें वे अपने आपको देख रहे हैं, अपनी प्रेक्षा कर रहे हैं। प्रेक्षा करते–करते, अपने आपको देखते–देखते वे सम्राट से केवली बन गए। यह ध्यान की परम्परा का आदि स्रोत है।

भगवान पार्श्व की ध्यान साधना विशिष्ट थी। पार्श्व की ध्यान साधना का प्रभाव बहुत व्यापक बना। पार्श्व की साधना से नाथ सम्प्रदाय प्रभावित है, बौद्ध धर्म और जैन धर्म प्रभावित है। पार्श्व का इतना व्यापक प्रभाव है कि उनकी ध्यान साधना से कितने ही सम्प्रदाय प्रभावित हुए हैं। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नाथ सम्प्रदाय की शोध में इन तथ्यों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है।

महावीर की साधना :-

पार्श्व के पश्चात् महावीर ने ध्यान की उत्कृष्ट साधना की। सोलह–सोलह दिन और रात वे एक ध्यान की मुद्रा में, कार्योत्सर्ग की मुद्रा में खड़े रहे। उनकी प्रेक्षा अनवरत चलती रही। महावीर के निर्वाण के पश्चात् ध्यान की साधना चलती रही और लम्बे समय तक यह क्रम चला। बीच में प्रश्न भी खड़े हुए। बौद्धों ने प्रश्न खड़ा किया – जैनों में ध्यान साधना कमजोर है। पुण्यमित्र का प्रसंग इस बारे में स्पष्ट है। बौद्ध भिक्षु आए। आचार्य ने कहा – तुम यहां हमारे पास रहो और देखो कि दुर्बलिका पुण्य मित्र कैसे ध्यान करता है ? ध्यान की प्रकृष्ट साधना उस समय चल रही थी।

स्वरुप बदल गया :-

भगवान महावीर के निर्वाण के हजार वर्ष बाद ऐसा लगता है कि एक मोड़ आया और जैन धर्म में ध्यान–साधना कुछ कमजोर पड़ी। वीर–निर्वाण के पन्द्रह सौ वर्षो के बाद ध्यान का स्वरुप बदल गया। जो मूल ध्यान साधना पद्धति थी, जैन धर्म की प्राचीन पद्धति थी, वह छूट गई और हठयोग तंत्र आदि से प्रभावित ध्यान की पद्धति चली। आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र, पूज्यपाद आदि आदि ने ध्यान की साधना को फिर आगे बढ़ाया। किन्तु उसका स्वरुप बदल गया। इन पांच–सात सौ वर्षो में ध्यान की साधना अत्यंत क्षीण हो गई। जैसे बहते बहते नदी का प्रवाह क्षीण हो जाता है, वैसे ही जैन धर्म में ध्यान की सरिता का प्रवाह क्षीण हो गया। स्थिति यह बन गई – जैन लोग यह भी भूल गए कि हमारे यहां भी ध्यान की कोई पद्धति है।

अर्वाचीन स्रोत :-

भगवान ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने प्रेक्षा प्रयोग किया था और वहां से गुजरता हुआ वह प्रेक्षा में समाहित

हो गया। अर्थ पुराना शब्द नया। यह प्रेक्षा के प्राचीन से वर्तमान स्रोत तक की संक्षिप्त मीमांसा है। अर्वाचीन स्रोत अनेक हैं। उन स्रोतों की चर्चा के अनेक संदर्भ हैं।

श्वास प्रेक्षा और कायोत्सर्ग - ये दो प्रेक्षाध्यान के आधारभूत तत्व हैं। इनका स्रोत आवश्यक निर्युक्ति और कायोत्सर्ग शतक में मिला। वहां कहा गया – श्वास को सूक्ष्म करें, कायोत्सर्ग करें। श्वास को सूक्ष्म करना, श्वास को मन्द करना एक ही बात है।

आधार शरीरप्रेक्षा का :-

शरीर प्रेक्षा का सूत्र आचारांग सूत्र से मिला। आचारांग का सूत्र है – जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्तिमन्नेसि। इस विग्रह, शरीर का जो वर्तमान क्षण है, उसका अन्वेषण करें। शरीर के वर्तमान क्षण का अन्वेषण करना, इस शरीर में क्या परिणमन, परिवर्तन हो रहा है ? कौन–सा जैविक, रासायनिक परिवर्तन हो रहा है ? यह शरीर प्रेक्षा है और इसका बोध आचारांग सूत्र में स्पष्ट मिलता है।

आधार चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का :-

एक प्रयोग है–चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। प्रेक्षाध्यान में तेरह चैतन्य केन्द्र (साईकिक सेन्टर) स्वीकृत हैं। हठयोग ने छह चक्र माने गए हैं, कहीं–कहीं नौ चक्र माने गए हैं। प्रेक्षाध्यान में कुछ नए चैतन्य केन्द्र खोजे गए। ये कैसे खोजे गए, इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। बस आ गए, किन्तु इनका स्रोत फिर खोजा गया। आखिर ये कहां मिलेंगे ? हठयोग और तंत्रशास्त्र में भी नौ ही है। हमने तेरह निर्धारित किए है। क्या ये निराधार है ? इनका आधार कहां मिलेगा ? जब इस पर ध्यान दिया, खोजा तो पाया – नंदी सूत्र में सैंकड़ों चैतन्य केन्द्रों की चर्चा है। नंदीसूत्र ज्ञान मीमांसा का आगम है। एक ज्ञान है अवधि ज्ञान। यह अतिन्द्रिय चेतना को जागृत करने वाला पहला ज्ञान है। इसके अनेक प्रकार बतलाए गए हैं।

1. पुरओ – आगे का अवधिज्ञान
2. पिट्ठओ – पीछे का अवधिज्ञान
3. पासओ – दोनों पार्श्व का अवधिज्ञान
4. मज्झओ – ऊपर का अवधिज्ञान

कितने है चैतन्य केन्द्र :-

चूर्णिकार ने बहुत स्पष्ट किया है– जैसे एक दीप का प्रकाश उस पर ढक्कन देने से अवरूद्ध हो जाता है। उसे जालीदार बना देने से प्रकाश की रश्मियां उसमें से बाहर निकलने लगेगी। हमारी चेतना पर भी एक आवरण पड़ा हुआ है। ज्ञानावरण कर्म का। साधना के द्वारा आवरण को भेद कर जालीदार बना लें तो फिर उसमें से अतिन्द्रिय ज्ञान की रश्मियां बाहर निकलेगी, चारों तरफ से निकलेगी। एक स्पष्ट संकेत मिला चैतन्य केन्द्र तेरह ही नहीं, तेरह सौ भी हो सकते हैं, तेरह हजार भी हो सकते हैं। हमारा यह शरीर चैतन्य केन्द्रों से भरा हुआ है। जहां से भी भेदो, वहीं से प्रकाश निकलना शुरू हो जाएगा। आज स्नायुतंत्र के विशेषज्ञ बतलाते हैं– आंख से हमने देखना शुरू किया, इसका तात्पर्य है – इस स्थान का हमने क्रिस्टेलाईजेशन कर दिया। अगर यह क्रिस्टेलाईजेशन अंगुली का कर दें तो अंगुली से देखने लग जाएंगे। एक लब्धि है संभिन्नस्रोतोलब्धि। उसका अर्थ ही यही है – शरीर के हर किसी भाग से देख सकते हैं, सुन सकते हैं, चख सकते हैं। सब इन्द्रियों का काम किसी एक अंगुली से कर सकते हैं, पैर के अंगूठे से कर सकते हैं, जहां से चाहे, वहां से कर सकते हैं, यदि उसका क्रिस्टेलाईजेशन हो जाए। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का अर्थ है– शरीर के किसी भी भाग को हम सक्रिय कर सकते हैं, इलेक्ट्रोमेग्नेटिक फील्ड बना सकते हैं, उसमें झांक सकते हैं।

संदर्भ धवला का :-

दिगम्बर साहित्य में बहुत विस्तार से "करण" के नाम से इसकी चर्चा की गई है। "धवला" में स्वस्तिक, कलश, चक्र, शंख, पद्म आदि इसके अनेक प्रकार के आकार बतलाए गए हैं। नाभि से ऊपर के केन्द्रों के आकार प्रशस्त होते हैं और नाभि से नीचे के जो चैतन्य केन्द्र हैं, उनके आकार अप्रशस्त होते हैं। पशुओं में नीचे के केन्द्र ज्यादा जागृत रहते हैं और मनुष्य यदि साधना करे तो वह ऊपर के केन्द्रों को जागृत कर सकता है, विशिष्ट शक्तियों को प्राप्त कर सकता है।

आधार लेश्या ध्यान का :

लेश्या ध्यान का प्रयोग आकस्मिक ढंग से हुआ। न कभी सोचा था, न कभी चिन्तन किया था। शिविर में गए, ध्यान का प्रयोग कराना था। एक मिनट पहले सोचा–क्या कराएं और दूसरे ही मिनट लेश्याध्यान का प्रयोग चालू हो गया। बाद में उसका स्रोत खोजा और वह मिल गया। लेश्या हमारे भावों का प्रतिनिधित्व करने वाली, व्याख्या करने वाली एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है। जयाचार्य ने रंगों के ध्यान का अच्छा वर्णन किया है। इस विषय में उनके दो ग्रन्थ हैं – छोटा ध्यान और बड़ा ध्यान। दो छोटे ग्रन्थों में रंगों का ध्यान करने की बहुत अच्छी पद्धति मिली। प्रेक्षा ध्यान में पाँच चैतन्य केन्द्रों पर पाँच रंगों का ध्यान किया जाता है।

अनुप्रेक्षा :

एक प्रयोग है अनुप्रेक्षा का। बारह अनुप्रेक्षा या सोलह अनुप्रेक्षा– ये बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित हैं। कुन्दकुन्द ने बारह अनुप्रेक्षा पर लिखा। स्वामी कार्तिकेय ने इस पर लिखा। विनयविजयजी ने लिखा, अनेक आचार्यों ने लिखा। किन्तु यह सौभाग्य पूज्य गुरूदेव की अनुकम्पा और अनुग्रह से हमें मिला कि अनुप्रेक्षा की पद्धति को हमने विकसित किया। शब्द तो प्राचीन थे। किन्तु इनकी पद्धति को विकसित करने का श्रेय हमें है। अनुप्रेक्षा की पद्धति विकसित हुई और आज पच्चीस–तीस अनुप्रेक्षा के प्रयोग शायद सबसे शक्तिशाली प्रयोग है। पुरानी आदत को मिटाने और नए संस्कार के निर्माण हेतु अनुप्रेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुति : आचार्य महाप्रज्ञ

सन्दर्भ : प्रेक्षाध्यान पत्रिका (धवल विशेषांक)

प्रेक्षा ध्यान

जीवन एक अभियान है
अखण्ड का अनुसंधान है
सुन्दर का सुरम्य उद्यान है
मानव बना क्यों तू बेमान है ?
जिसने भूल को जाना
उसने पूर्ण को जाना,
जिसने सूक्ष्म को जाना,
उसने स्थूल को जाना,
भटकता रहा वो सदा
जो उलझा बाहर में है,
जिसने स्वयं को जाना
उसने सकल को जाना।
आए
प्रेक्षा का दीप जलाएं
अन्तर का तिमिर मिटाएं
स्वयं को सरसाएं
सबको सरसाये

– मुनि विनोद कुमार

2. बौद्ध दर्शन में ध्यान

जन्म - ई. पूर्व 582 **निर्वाण -ई.पू. 502**

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान पर 'ध्यान और समाधि' शब्द मिलता है। ध्यान बौद्ध धर्म का हृदय है। बौद्ध साधना पद्धति में ध्यान का अर्थ किसी विषय पर चिन्तन करना है। परन्तु अभ्यास के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है, चित्त का अभ्यास ही ध्यान है। बाह्य विषयों की आसक्ति से मुक्त होना ही ध्यान है।

बोधि प्राप्त होने के पूर्व तथागत बुद्ध ने श्वासोच्छवास का निरोध करने का प्रयत्न किया। बौद्ध योग में समाधि का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे प्राप्त करने के लिए ध्यान का प्रतिपादन किया।

भगवान बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के लिए दो साधनों से सम्पन्न होने का विशेष उल्लेख किया। पहला साधन है शील विशुद्धि (सत्कर्मो के अनुष्ठान से नैतिक शुद्धि) तथा दूसरा साधन है चित्त विशुद्धि (चित्त की शुद्धता)।



'सुत्तपिटक' ग्रन्थ के अनेक सुत्तो में बुद्ध ने समाधि की शिक्षा दी। हीनयान में ध्यान योग का विस्तृत तथा विशद विवेचन है। महायान में भी योग का महत्वपूर्ण स्थान है। हीनयान में लक्ष्य की सिद्धि के लिए ध्यान किया जाता है, निर्वाण प्राप्ति ही ध्यान का लक्ष्य है। जो चित्त के रागादि क्लेशों के दूरीकरण पर इसी लोक में आविर्भुत होता है।

महायान में ध्यान का लक्ष्य है बुद्धत्व की प्राप्ति। इस कार्य में साधक को ध्यान योग से पर्याप्त सहायता मिलती है। बिना समाधि के काम धातु अर्थात् वासनामय जगत का अतिक्रमण कर रूप धातु में जा नहीं सकता। समाधि साधक को रूप धातु में ले जाने के लिए प्रधान सहायक है। यह एक जन्म का व्यापार नहीं है। अनेक जन्मों में पुण्य–संभार का संचय करता हुआ साधक ज्ञान संभार की प्राप्ति करता है। प्रज्ञा–पारमिता अन्य पारमिताओं का परिणाम है। जब तक प्रज्ञा पारमिता का उदय नहीं होता तब तक बुद्धत्व की प्राप्ति हो नहीं सकती। निर्वाण की प्राप्ति के लिए चित्त को समाहित करना नितान्त आवश्यक है।

धम्मपद में भगवान बुद्ध ने बताया है :–

"सव्वे संखारा अनिच्चति यदा पञ्जाय पस्सति ।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एसव मग्गो विसुद्दिया ।।"

अर्थात् – जब मनुष्य प्रज्ञा द्वारा देखता है तो सब संसार अनित्य प्रतीत होते हैं। तब वह क्लेशों से विरक्त होता है और संसार में उसकी आसक्ति नहीं रहती। यह विशुद्धि का मार्ग है।

शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा सर्वमल का निरसन तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है। भगवान बुद्ध की यही तीन मूल शिक्षाएँ – ध्यान समाधि के संदर्भ में है। शील से शासन की आदि कल्याणता प्रकाशित होती है। समाधि शासन के मध्य में और प्रज्ञा पर्यवसान में प्रकाशित होती है। शील से अपाय (दुर्गति) का अतिक्रमण, समाधि से कामधातु का और प्रज्ञा से सर्वभव का अतिक्रमण होता है।

काम रूप और अरूप भूमियों की कुशल चित्त एकाग्रता को लौकिक तथा इस लौकिक समाधि के मार्ग को शमथयान कहते हैं। अभिधम्म पिटक में ध्यान के 5 प्रकार बताए गए हैं। उनमें प्रमुख 2 है :– रूपावचर ध्यान एवं अरूपावचर ध्यान।

भगवान बुद्ध ने कहा था :–

"नत्थि झाणं अपञ्ञस्य, पञ्ञा नत्थि अझायते।
यम्हि झाणं च पञ्ञा च स वै निब्बानसन्तिको।।"

"प्रज्ञाहीन के ध्यान नहीं होता और ध्यानहीन के प्रज्ञा नहीं होती। जिसमें प्रज्ञा और ध्यान दोनों होते हैं, निर्वाण उनके निकट है। जब मनुष्य प्रज्ञा द्वारा देखता है तो सब संस्कार अनित्य प्रतीत होते हैं। तब वह क्लेशों से विरक्त होता है और संसार में उसकी आसक्ति नहीं रहती। यही ध्यान विशुद्धि का मार्ग है। ध्यान धर्म का हृदय है। ध्यान से चित्त की विशुद्धि होती है तथा चित्त शुद्धि से निर्वाण प्राप्त होता है।

जिस प्रकार अच्छी तरह से आच्छादित छप्पर से वर्षा का पानी घर में प्रवेश नहीं करता, उसी प्रकार ध्यान से छाये हुए चित्त में राग–द्वेष का प्रवेश नहीं होता।

सन्दर्भ : जैन दर्शन पत्राचार प्रस्तुति : समण सिद्धप्रज्ञ

3. इस्लाम धर्म में ध्यान

इस्लाम शब्द अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ है – शरण लेना अर्थात् ईश्वर के प्रति अपने आपको समर्पित कर देना। समर्पण भी यहां तक कि 'राजी है हम उसी में, जिसमें तेरी रजा हो।' अर्थात् ईश्वर के प्रत्येक कर्त्तव्य में समर्पण। कुरान कहता है– बीच के कोई भी देवता तुम्हारा भला नहीं कर सकते। तुम किसी देवता की शरण में मत जाओ। तुम उन देवता की शरण में जाते हो, जो एक मक्खी को भी नहीं बना सकता। तुम उस परमात्मा की शरण लो, जो सब कुछ करने में समर्थ है।

इस्लाम का एक दूसरा अर्थ है – शान्ति 'अस्सलामो अलेकुम' अर्थात् आपको शान्ति मिले। इस्लाम धर्म के संस्थापक थे – मुहम्मद साहब।' उनका आगमन मक्का में 570 ई. में हुआ था। मुहम्मद साहब प्रारम्भ से ही एकान्त प्रिय थे। वे अक्सर 'हीरा' की गुफा में एकान्तवास और ईश्वर आराधना में लगे रहते। लिखा है – 'मुहम्मद! तुम्हारा रब जानता है कि तुम रात को लगभग दो तिहाई हिस्से तक और कभी आधी रात, कभी एक तिहाई रात नमाज में खड़े रहते हो।' चालीस वर्ष की आयु में हीरा की गुफा में मुहम्मद ने ईश्वरीय सन्देश का अनुभव किया। कुरान के रूप में उनके सन्देश प्रसारित हुए। कुरान में मूलतः ईश्वरीय वचन ही संग्रहित है जिसे मुहम्मद ने भिन्न–भिन्न समयों में देवदूतों के सन्देश से प्राप्त किया इसलिए उसे ईश्वरीय वचन कहा गया है।



मारफिल में मुरीद–साधक को परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए सात मुकामों से गुजरना पड़ता है – 1. तौबा–अनुताप 2. जहद–अपनी इच्छा से गरीबी का स्वीकार 3. सब्र–सन्तोष 4. शुक्र–अल्लाह के प्रति कृतज्ञता। 5. रिज़ाअ–दमन 6. तवक्कुल–अल्लाह की कृपा पर भरोसा 7. रजा–अल्लाह की मर्जी को अपनी मर्जी मानना। कुरान में ईश्वर के सात गुणों की चर्चा की गई है जो इस प्रकार है :– 1. हयात (जीवन) 2. इल्म (ज्ञान) 3. कद्र (शक्ति) 4. इराद (इच्छा) 5. सम (श्रुति) 6. बरार (दृष्टि) 7. कलाम (वाणी)।

इस्लाम के पाँच आधार है :–1. मत का उच्चारण 2. नमाज 3. जकात 4. रमजान महिने में उपवास 5. हज करना।

उपवास रखने के तीन कारण बतलाएँ :–

1. पेट तथा शरीर को अपनी लालसा की सन्तुष्टि से रोकना 2. इन्द्रियों को वश में रखना तथा उन्हें पाप कृत्य से रोकना 3. मन को सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त रखना तथा ईश्वर के प्रति अपने विचारों को केन्द्रीभूत करना। ईस्लाम धर्म में मानवता की भलाई के लिए गुणों के विकास पर बल देते हुए कुछ अकरणीय दुर्गुण बतलाएं है। जैसे – रिश्वत, अभिमान, आत्महत्या, कृपणता, क्रोध, गाली, प्रवंचना, ईर्ष्या, ब्याज का पैसा खाना, जुआ खेलना तथा शराब पीना आदि।

मुहम्मद साहब ने कहा – "सच्चा जेहाद (युद्ध) तो अपनी शारीरिक तृष्णाओं तथा वासनाओं के विरूद्ध करना चाहिए। कुरान का वचन है – हे श्रद्धावानों ! ऐसी बात क्यों कहते हों, जो करते नहीं, ईश्वर के निकट यह बात बहुत निन्द्य है कि वह बात कहो, जो करो नहीं। कुरान का यह वाक्य कितना मूल्यवान है – तुम कहो कुछ और करो कुछ इससे ईश्वर प्रसन्न नहीं होता है।

'किसी के साथ अन्याय मत करो। किसी के साथ जुल्म मत करो। किसी को सताओ मत। सबके साथ मैत्री करो। तुम्हें ईश्वर के पास जाना है, वहां न्याय होगा। शरीर पर ममत्व मत रखो। शरीर छुट जाएगा। तुम नष्ट नहीं होने वाले हो। परमेश्वर पर विश्वास रखना चाहने वालों को पड़ोसियों को दुःख नहीं देना चाहिए।' 'तुम अल्लाह की ओर यदि एक कदम चलो तो वह हजार कदम चलता है।' अपने अन्तिम उपदेश में मुहम्मद साहब ने अपने उत्तराधिकारी हजरत अली से कहा–संत समागम और सदाचरण से खुदा के पास पहुंचा जाता है। मन पर नियन्त्रण रखना चाहिए। शक्ति व योग्यता का अभिमान नहीं करना चाहिए। किसी को कष्ट नहीं देना चाहिए। बड़ो का आदेश–पालन करना। क्षमा और नम्रता से सबके दिलों को जीतना चाहिए।'

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

4. ईसाई धर्म में ध्यान

ईसाई धर्म के प्रणेता ईसा या जीसस है। उनका मूलग्रन्थ बाइबिल है। बाइबिल के दो रूप है–ओल्ड टेस्टामेंट और न्यू टेस्टामेंट। ओल्ड टेस्टामेंट में 39 पुस्तिकायें है, जो ईसाई और यहूदी दोनों धर्मो के लिए समान है और न्यू टेस्टामेंट में 27 पुस्तिकाएँ हैं। ईसाई लोग ईश्वर की प्रेरणा से बाइबिल की रचना मानते हैं जबकि यहूदी ईश्वर की प्रकाशना मानते हैं। ईसाई धर्म में बाइबिल की तरह गिरजाघर (चर्च) का महत्वपूर्ण स्थान है।

ईसाई धर्म में ईश्वर को परम सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वह एक है। वह सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ है। वह पूर्ण, नित्य, शाश्वत हैं।

ईसाई दर्शन में आत्मा की अमरता के सन्दर्भ में यह उल्लेख है कि मनुष्य का उद्देश्य वैयक्तिक अमरता (Personal immortality) को प्राप्त करना है। वैयक्तिक अमरता वैयक्तिक मुक्ति की ओर ले जाती है। ईश्वर की कृपा के बिना मनुष्य मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। मुक्ति के लिए ईश्वर में भक्ति, निष्ठा, समर्पण एवं विश्वास आवश्यक है। ईसाई धर्म में हृदय की पवित्रता एवं अन्तःकरण की शुद्धता को विशेष महत्व दिया गया है।



ईसाई धर्म को मानने वाले नैतिकता की दृष्टि से ईसा के जिन उपदेशों को अत्यन्त श्रद्धा से ग्रहण करते हैं वे हैं :–शेलोपदेश। उसके मुख्य दस सूत्र है। जैसेः–

- धन्य वे है जिनका अन्तःकरण शुद्ध है,क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार उन्हें होगा।
- शान्ति के प्रचारक धन्य है क्योंकि वे भगवान के पुत्र कहे जाएंगे।
- धन्य वे हैं जो धर्म के भूखे–प्यासे हैं। वे तृप्त किये जाएंगें।
- धन्य वे हैं जो दूसरों को सदा क्षमा करते हैं।
- धन्य वे हैं जो हर परिस्थिति में प्रसन्न रहते हैं।
- कल की चिन्ता मत करो, कल का दिन अपनी चिन्ता आप कर लेगा। आज के लिए तो आज की चिन्ता बहुत है।
- लोगों को दिखाने के लिए धर्म का आचरण मत करो। यदि ऐसा करोगे तो भगवान से तुम कुछ भी फल नहीं पा सकोगे।

ईसाई धर्म में नैतिक मूल्यों का विशेष महत्व है। जैसे व्यभिचार मत करो। जिसने किसी दूसरी स्त्री की ओर वासनापूर्वक दृष्टि फेरी है उसने उसके साथ व्यभिचार कर लिया है। जो आदमी अपने भाई पर गुस्सा करता है, वह परमात्मा की नजर में गुनहगार है, सबके साथ प्रेम करो। सदैव जागरूक रहो। कभी प्रमाद मत करो। 'अपनी कमर बांधे रखो और दीपक जलता रखो। तुम अपने पूरे मन, प्राण और बुद्धि से ईश्वर से प्रेम करो। बीमारों की सेवा करो। ईसा ने कहा था – अपने विरोधियों के साथ शीघ्र राजीनामा कर लो। तुम अपने मुंह में क्या डालते हों, उससे तुम्हें स्वर्ग का राज्य नहीं मिलेगा, अपितु तुम्हारें मुंह से क्या निकलता है उससे मिलेगा। जो सत्य है वह मुक्त करता है। अगर सत्य तुम्हें मुक्त न करें तो जानना कि वह सत्य नहीं है। तुम मेरे राज्य में तभी प्रवेशकर सकोगे, जब तुम छोटे बच्चे की भांति सरल हो जाओ। जो तुम नहीं चाहते कि दूसरे लोग तुम्हारे साथ करे, वह तुम दूसरों के साथ मत करना। जब तक तुम अपनी शूली को अपने कन्धों पर ढ़ोने को राजी न हो, मेरे साथ न चल सकोगे।

ईसा ने ध्यान के सम्बन्ध में कहा था –'ईश्वर सत्य है, उसका सच्चा ध्यान ही अमर जीवन है। उसे जान लेने से सब लोग पाप की गुलामी से मुक्त हो सकते हैं।

सच्ची शान्ति का स्त्रोत कहां है, ? इसका उपदेश करते हुए वे जाने–अनजाने व्यक्ति को भीतर उतरने की प्रेरणा देते हैं –"मनुष्यों के मुह में तेरी शान्ति क्यों बंधी रहें ? उनके निन्दा–यश पर तेरी शान्ति क्यों निर्भर रहें ? वे अच्छा कहे या बुरा, इससे तू दूसरा आदमी तो नहीं बन जायेगा ? तू जो है, वही रहेगा। इसलिए विचारकर कि सच्ची शान्ति और विभूति का स्त्रोत कहां हैं ? क्या मैं नहीं ?"

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

5. भगवान महावीर की दृष्टि में ध्यान

जन्म ई. पूर्व. 599 निर्वाण ई. पूर्व 527

भगवान महावीर जिन थे। साढ़े बारह वर्ष की साधना के बाद आत्मज्ञान प्राप्त किया। उनकी साधना के मुख्य सूत्र दो ही थे – ध्यान एवम् तपस्या। उन्होंने अपने उपदेशों में ध्यान साधना पर सर्वाधिक बल दिया।

वे कहते है 'ध्यान वह अग्नि है जो समग्र विजातीय तत्व को भस्म कर आत्मा को प्रकाशमय बना देती है।'

"जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाइं वासकोडिएहिं।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ अच्छा समेत्तेणां।।"

ध्यान का महत्व बताते हुए भगवान महावीर कहते है–'अज्ञानी व्यक्ति करोड़ों वर्षो में जिस कर्म राशी को नष्ट करता है, एक ज्ञानी साधक मन, वाणी और काया को संयत कर उस कर्म राशि को एक उच्छवास में नष्ट कर देता है।'

"सीसं जहा सरीरस्स जहा मूलं दुमस्सय।
सव्वस्स साहु धम्मस्स तहा झाणं विधीयते।।"

ध्यान की महिमा को स्पष्ट करते हुए वे कहते है "शरीर में मस्तिष्क का, वृक्षों में मूल का, जो स्थान है वैसे ही साधु के समस्त धर्मो का मूल ध्यान है। समस्त साधुओं के धर्म का मूल सूत्र ध्यान है। मुनि का अर्थ ही ध्यानी होता है। जो मौन हो चुका, जिसके भीतर चित्त में अब कोई तरंगे नहीं उठती, जो निर्विचार हो गया वह ध्यानी है।



"जह चिरसंचियमिंधण-मनलो पवणसहिओ दुयं दहइ।
तह कम्मेंधणममियं खणेण झाणानलो ड़हइ।।"

'जैसे चिर संचित इंधन को वायु से प्रदीप्त आग तत्काल जला डालती है, वैसे ही ध्यान रूपी अग्नि अपरिमित कर्म इंधन को क्षण भर में भस्म कर डालती है।'

"गरहिय निययदुच्चरिओ, खामियसत्तो नियत्तियपमाओ।
निच्चलचित्तो ता झाहि, जाव पुरओव्व पडिहाइ।।"

वह अपने पूर्व कृत बुरे आचरण से गर्हा करे, सबसे क्षमा चाहे, प्रमाद को दूर करे और चित्त को निश्चल कर ध्यान करे। इससे पूर्व कर्म नष्ट हो जाते है।'

"सुविदियजगरस्सभावो, निःस्संगो निब्भओ निरासो य।
वेरग्गभावियमाणो झाणंमि सुनिच्चलो होइ।।"

'ध्यानयोगी अपनी आत्मा को शरीर तथा समस्त बाह्य संयोगों से भिन्न देखता है। अर्थात् देह तथा उपाधि (भावनात्मक बिमारियां) का सर्वथा त्याग करके निस्संग हो जाता है। आगे वे कहते है 'हे ध्याता, तू न तो शरीर से कोई चेष्टा कर न वाणी से कुछ बोल और न मन से कुछ चिन्तन कर। इस प्रकार योग का निरोध करने से तू स्थिर हो जाएगा। तेरी आत्मा **आत्मरत् हो जायेगी। यही परम ध्यान है।'**

"लवण व्व सलिलजोए, झाणे चित्तं विलीयण जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो, अप्पाअणलो पयासेइ।।"

'जैसे पानी का योग पाकर नमक विलीन हो जाता है, वैसे ही जिसका चित्त निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है, उसके चिर संचित शुभाशुभ कर्मो को भस्म करने वाली आत्मारूपी अग्नि प्रकट होती है। भगवान महावीर कहते है कि जन्मोजन्मो की कर्म श्रृंखला को मिटाने के लिए बहुत जन्म लेने की आवश्यकता नहीं है। अनन्त कर्म अनन्त काल में नहीं एक क्षण में भी टुट सकते है। उसके लिए ध्यान की अग्नि को प्रज्ज्वलित करना पड़ता है।

"जस्स न विज्जदि रागो, दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहड़हणो, झाणमओ जायए अग्गी।।"

'जिसके रागद्वेष और मोह नहीं है तथा जिसके मन–वचन–काया रूपी योगों का व्यापार नहीं रह गया है उसमें समस्त शुभ – अशुभ कर्मो को जलाने वाली ध्यानाग्नि प्रकट होती है।'

भगवान महावीर पहले योगी है जिन्होंने ध्यान को भी दो भागों में विभक्त कर दिया–अशुभ ध्यान और शुभ ध्यान। ध्यान भी अशुभ हो सकता है यदि चित्त की भावधारा में विकार है तो, सांसारिक कार्यो में जो रागद्वेषपूर्ण एकाग्रता होती है वह अशुभ ध्यान ही है। आर्त और रौद्र ध्यान ये दो अशुभ ध्यान है। धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान को उन्होंने शुभ ध्यान में रखा। धर्म्य ध्यान का तात्पर्य है आत्मस्वभाव में जाने की साधना

करना और शुक्ल ध्यान चेतना की परम विशुद्ध अवस्था का नाम है। राग–द्वेष मुक्त चित्त की निर्विकार दशा ही शुक्ल ध्यान है।

भगवान महावीर ने ध्यान के अन्तर्गत कायोत्सर्ग प्रतिभा, नासाग्र दर्शन, शरीर प्रेक्षा, भेद–ज्ञान एवम् अनुप्रेक्षाओं के बहुत सारे प्रयोग किये। ध्यान के समय वे प्रायः निराहार रहते थे। उन्होंने आसनों का प्रयोग भी किया। उनको आत्मज्ञान भी एक विशिष्ट आसन 'गोदोहिका' में हुआ। वे आतापना को भी साधना का अंग मानते थे। इस प्रकार उनकी साधना आत्मलक्षी साधना थी।

जैसे किसी को दर्शनशास्त्र में जाना हो तो विचार तर्क, मौलिक आधार है। वैसे ही किसी को स्वयं में जाना हो, स्वभाव में जाना हो तो ध्यान मौलिक आधार है।

"अप्पा अपम्मि रओ, इणयेव परं हवे झाणं"

फिर आत्मा आत्मा में रम जाती है। यही परम ध्यान है।

महावीर ने कहा –'संसार से वही मुक्त हो सकता है, जिसने जल्दबाजी नहीं, जो संसार के स्वभाव से सुपरिचित है वे ही केवल वीतरागता को उपलब्ध हो सकते है।'

सन्दर्भ : समण सुत्तं

प्रस्तुति : समण सिद्धप्रज्ञ।

जीवन विज्ञान

परिस्थितियां प्रतिकूल है
खण्ड–खण्ड उसूल है
नहीं कोई किसी के माकूल है
प्रगति के नाम सर्वत्र
कम्प्यूटराइज्ड युग का तूल है
लगता है मूल में ही कहीं भूल है।।
शिक्षण के कहां खिले फूल हैं ?
वे तथाकथित प्रबुद्ध
अपने अहं में ही मशगूल हैं
पर पीड़नाय उगा रहे बबूल हैं, शूल हैं
आश्चर्य, फिर भी नहीं, उन्हें यह कबूल है।।
विसंगतियों को मिटायें
सही स्वरूप निहारें
उसे फिर स्वीकारें
यही है जीवन – विज्ञान
सत्य का सही अनुसंधान।

- मुनि विनोद कुमार

6. आदि शंकराचार्य की दृष्टि में ध्यान

जन्म सन् 788 निधन : 820

आदि शंकराचार्य आधुनिक हिन्दू संस्कृति के संस्थापक थे। उनका जन्म उस समय हुआ जब हिन्दू समाज अपना स्वरूप एवं प्रभात प्राप्त कर चुका था। वे एक महान् समाज सुधारक और विचारक थे। उन्होंने इस समाज में फैली अव्यवस्था को दूर किया एवं अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। अद्वैत सिद्धान्त की मान्यता है कि इस संसार में जो भी कुछ है वह सब चैतन्य स्वरूप है। जीव के अलावा कोई दूसरा तत्व नहीं है। माया, अविद्या के कारण उसके नाना रूप दिखाई देते है। जीव, अविद्या के कारण अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूप को भूलकर बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियों और शरीर आदि की उपाधियों को अपनी अवस्था मान लेता है। अर्थात् दुःख का कारण अज्ञान है।

"अविद्या बंध हेतु स्यात् विद्या स्यात् मोक्ष कारणम्।
ममेति बध्यते जन्तुः न ममेति विमुच्यते।।"



शंकराचार्य जी कहते है अज्ञान (माया) कर्म बंध का कारण है और विद्या (ज्ञान निष्ठा) मोक्ष का हेतु है। जिसमें ममकार होता है, वह बंधता है और ममकार का त्याग करने वाला मुक्त हो जाता है।

आत्मज्ञान के महत्व को समझाते हुए शंकराचार्यजी कहते है :–

"कामं क्रोधं लोभं मोहं, त्यकृत्वात्मानं भावय कोऽहं।
आत्मज्ञान विहीना मूढ़ाः, ते पचयन्ते नरक निगूठाः।।

अर्थात्– आत्म ज्ञान के बिना जीवन बिताना नरक में रहने के समान है। जीवन के क्लेश और दुःखों को सहन करने की शक्ति आत्मज्ञान से ही प्राप्त होती है।

ज्ञान प्राप्ति के लिए उन्होंने कहा कि भगवान का ध्यान करना चाहिए। अपनी–अपनी रूचि के अनुसार किसी एक आकार में भगवान की कल्पना करके उसी के ध्यान में लगे रहना ही ईश्वर प्रेम है।

मन की भटकन को रोकने का उपाय बताते हुए वे कहते है कि जब भी तुम्हारा मन कलुषित वस्तुओं के पीछे जाने लगे तब अपने मन को सज्जनों की संगति में लगाओ। शरीर या मन से भी यदि तुम्हारा सम्पर्क अच्छे लोगों के साथ लगे तो तुम मलीन होने से बच जाओगे।

शंकराचार्य ने न केवल सन्यासियों को उपदेश दिया अपितु गृहस्थों को भी ईश्वर स्मरण/ध्यान का उपदेश दिया।

योग, सुख की चर्चा करते हुए शंकराचार्यजी कहते है–

"योगरतो वा भोगरतो वा, संगरतो का संगविहीनः।
यस्य ब्रह्मणि रमते चित्तं, नन्दति नन्दति नन्दत्येव।।"

दो प्रकार का सुख होता है–एक तो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सुख और दूसरा अपने अन्दर स्थित ब्रह्मा में लीन होने से मिलने वाला आनन्द। ब्रह्मानन्द ही अनन्त और स्थायी होता है।

आचार्यजी आगे कहते है कि हमें गृहस्थ–जीवन में रहकर भी चित्त को परिग्रह से हटाकर ईश्वर के ध्यान में लगाना चाहिए। यह असाध्य नहीं है। सांसारिक कार्यो में लगे रहने पर भी यदि हम मन को वश में रखे और प्रभु के ध्यान में लगे रहे तो हम निरन्तर सुख पा सकते हैं।

"सुरमन्दिर तरूमूल निवासः, शय्या
भूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रह भोगत्यागः कस्यः सुखं न
करोति विरागः।

शंकराचार्यजी वैराग्य को सच्चा सुख बताते हुए कहते है :– मन से आसक्तियों को निकाल देने से जिस सुख का अनुभव होता है, जो मानसिक शान्ति मिलती है, वहीं सच्चा सुख और वही सच्ची शान्ति है।

मन्दिर में किसी पेड़ की छाया में निवास करना, जमीन पर सोना, इनमें जो सुख है वह ऐश और आराम में नहीं। वैराग्य से किसको लाभ नहीं होता।

बाह्य क्रियाकाण्डो का निषेध करते हुए आन्तरिक आध्यात्मिक साधना का निरूपण करते हुए शंकराचार्यजी कहते हैं :–

"कुरूते गंगासागरगमनं, ब्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञान विहिनं सर्व मनेनं, मुक्ति न भवति जन्मशतेनं।।"

अर्थात् – तुम चाहे गंगा स्नान करो, नाना प्रकार के व्रतों का पालन करो, समुद्र स्नान करो, किन्तु ज्ञान के बिना ये सब निरर्थक है। ज्ञान–ध्यान के बिना केवल स्नान–दानादि कर्मो से मुक्ति नहीं मिल सकती। जब हृदय शुद्ध और भक्ति से परिपूर्ण हो जाए तभी स्नान–दान–व्रतों से लाभ हो सकता है।

"जटिलो मुंडी लुंचित केशः, काषायाम्बर बहुकृत वेषः।"

अर्थात्– मन से अनासक्त होना ही सच्चा वैराग्य है। केवल ढोंग करने से कोई लाभ नहीं। यदि मन में वासना रूपी आग बुझी नहीं है तो फिर चाहे केश मुंडाओ या केश बढ़ाओ कोई फर्क नहीं पड़ता। शंकराचार्यजी कहते है कि "इस संसार के सभी सुख और धन वैभव क्षण भंगुर है। उनकी नश्वरता को ध्यान में रखकर परमार्थ के मार्ग पर चलो।"

ज्ञान व्यथाओं को दूर करता है। जैसे जरावस्था में कामवासना अपने आप कम होने लगती है, पानी के सुखने पर तालाब पहचानने में नहीं आता, धन क्षीण होने पर स्वजन पास नहीं आते। इसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर सारे कपट समाप्त हो जाते।

सत्संग के महत्व को बताते हुए आचार्यजी कहते है कि सन्तों के साथ रहने से मन में शान्ति पैदा होती है, चित्त स्थिर रहता है। ज्यों–ज्यों इच्छा और आसक्तियां कम होती जाएगी, त्यों–त्यों मोह भी क्षीण होता जाएगा। शंकराचार्य अनासक्ति का सूत्र बताते हुए कहते है कि कोई किसी का नहीं है। चिन्ताओं से मुक्त होकर ज्ञान मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। गुरू पर पूर्ण श्रद्धा रखो, तुम अवश्य सांसारिक दुःखों से छुटकारा पा लोगे। मन एवं इन्द्रियों को वश में रखने से परमात्मा हृदय में विराजमान हो जाता है।

सन्दर्भ : भज गोविन्दम्

प्रस्तुति : समण सिद्धप्रज्ञ

मैत्री

सफल जीवन की युक्ति है।
समस्याओं से मुक्ति है।
अर्हतों की सारपूर्ण सूक्ति है।
उसका प्रस्फुटन वहीं होता है
जहाँ है
चित्त का निर्मलीकरण,
अहं का तरलीकरण,
हृदय का सरलीकरण
स्वार्थ का विलीनीकरण
समत्व का स्वीकरण।
आएं
मैत्री का दीप जलायें
अविद्या–तिमिर हटायें
स्वयं का दर्श पाये
प्रकाश से सबको नहलायें।

- मुनि विनोद कुमार

7. श्रीकृष्ण की दृष्टि में ध्यान

कृष्ण महाभारत के युद्ध में अर्जुन के सारथी बने और युद्ध क्षेत्र में गीता का उपदेश दिया। सामान्यतः गीता को 'निष्काम कर्मयोग' का ग्रन्थ बताकर इसकी मीमांसा की जाती है। उसके समस्त अध्याय महत्वपूर्ण है और मननपूर्वक आचरणीय भी। गीता में श्लोक संस्कृत में एवं काव्य में है। इसलिए उसमें छिपा मर्म समझना आसान नहीं है। गीता में मनुष्य को उसकी इकाई की पहचान दी गई है।

कृष्ण योगी की परिभाषा देते हुए कहते है कि 'संकल्पों को न त्यागने वाला कोई भी पुरूष योगी नहीं होता।' योगी का लक्षण है – संकल्पों से मुक्ति। संकल्प चाह से पैदा होता है। पाने की वासना छुटेगी तभी संकल्प छुटेंगे। कृष्ण समत्व बुद्धि को योग का सार मानते हैं। साधारणतः मन हमारा अतियों में डोलता है। अतियों में द्वन्द है। उन द्वन्दों के बीच जो स्थिर हो जाता है वह योग को उपलब्ध हो जाता है। कृष्ण ने भी कहा है कि योग साधना निष्काम भाव से करनी चाहिए। किसी कामना पूर्ति के लिए योग नहीं साधना चाहिए।



कृष्ण आगे कहते है 'जिसका मन और इन्द्रियों–सहित शरीर जीता हुआ है, ऐसा वासना रहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित होकर निरन्तर आत्मा को परमेश्वर के ध्यान में लगाए।'

ध्यान करने की शर्त बता रहे है कि शरीर, इन्द्रिय और मन पर जिसने नियन्त्रण पाया हुआ है। जो संग्रह और वासना से रहित है ऐसा साधक एकेला ही एकान्त में परम तत्व का ध्यान करें। योग का अभ्यास अन्तःकरण की शुद्धि के लिए करना चाहिए। ऐसा कृष्ण का कहना है। ध्यान की अनेक विधियों में 'नासाग्र दर्शन' को महत्वपूर्ण माना है।

योग सिद्धि के लिए कृष्ण कहते है–

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।
युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खाने वाले का सिद्ध होता है और न बिलकुल न खाने वाले का, तथा न अति शयन करने के स्वभाव वाले का और न अत्यन्त जागने वाले का ही सिद्ध होता है। यह दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार–विहार करने वाले का तथा कर्मो में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य शयन व जागने वाले का ही सिद्ध होता है। "परन्तु जिसका मन वश में नहीं हुआ हो उसको चाहिए कि यह स्थिर न रहने वाला और चंचल मन जिस–जिस कारण से सांसारिक पदार्थो में विचरता है उसे उससे रोककर बारम्बार परमात्मा में ही निरोध करें।"

इस सूत्र में श्रीकृष्ण मन के मालिक होने की बात कह रहे है। मालिक होने का अर्थ मन को मारना नहीं है किन्तु मन का एक साधन की तरह उपयोग करना है। उसके लिए मन से लड़ने की जरूरत नहीं है, मन के प्रति सजग होने की जरूरत है।

श्रीकृष्ण आगे कहते है "आनन्द उसे ही प्राप्त होता है जिसका मन अच्छी तरह से शान्त हो गया है, जो पाप से रहित है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है एवम् जो ब्रह्मा के साथ एकीभूत हो गया है।

जब अर्जुन पूछते है कि चंचल मन को मैं कैसे वश में करू ? तो श्रीकृष्ण समाधान देते हैं – "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।" हे कुन्तिपुत्र अर्जुन, अभ्यास और वैराग्य से चंचल मन को वश में किया जा सकता है।

अभ्यास का अर्थ है "हमारे द्वारा निर्मित गलत संस्कारों को तोड़ने की व्यक्तिगत चेष्टा और वैराग्य का अर्थ है मन पुनः नये संस्कार निर्मित न करें उसकी व्यवस्था। श्रीकृष्ण कहते है पराधीन मन योग को प्राप्त नहीं कर सकता। स्वाधीन मन वाला ही योग को प्राप्त

कर सकता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को योगी बनने की प्रेरणा देते हुए कहते है – "योगी तपस्वीयों से श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञान वालों से भी श्रेष्ठ है तथा सकाम कर्म करनेवालों से भी योगी श्रेष्ठ है। अतः हे अर्जुन, तू योगी हो "

तपस्या से योग श्रेष्ठ है क्योंकि तपस्या बाह्य साधना है, योग आन्तरिक साधना है। शास्त्र–ज्ञान से भी योग इसलिए श्रेष्ठ है कि शास्त्रज्ञान से सिर्फ शब्दों और सिद्धान्तों का परिचय होता है, उससे सत्य और उसकी अनुभूति नहीं होती। सत्य की अनुभूति योग से होती है। सकाम कर्म में चाह है, कामना है और योग की पहली शर्त है निष्काम होना। इसलिए योग सकाम कर्म से भी श्रेष्ठ है।

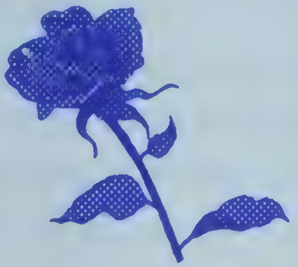
श्रीकृष्ण का ध्यान सम्बन्धी यह दर्शन जितना उनके समय में प्रासंगिक था, आज उससे भी अधिक प्रासंगिक है क्योंकि आज मानसिक समस्याओं ने बहुत पंख फैलाए है। इसमें से हम एक सूत्र को भी किरण के रूप मे पकड़ ले तो भी हम सत्य के सूर्य का साक्षात्कार कर पायेंगे।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ।

सन्दर्भ : गीता दर्शन

योग क्या है ?

जीवन का समायोजन योग है,
और मृत्यु का सुनियोजन भी योग है।
योग जो नहीं है, उसका वियोग है,
और जो है, उसका भोग है।
"नहीं" के मुखौटे को उतार फैंके तो,
"है" अस्तित्व का जन्म होता है।
फिर जो कर्म होता है, वह शुद्ध होता है
जिसमें अनुराग होता है और न विराग,
यही है सहज योग।



8. अष्टावक्र की दृष्टि में ध्यान

'अष्टावक्र संहिता' एक अद्भुत संवाद है। यह संवाद कहोड़ ऋषि के पुत्र अष्टावक्र और राजा जनक के बीच घटित हुआ। अष्टावक्र के स्थूल शरीर के आठ अंग टेढ़े थे, इसलिए वे अष्टावक्र कहलाए। लेकिन स्वभाव के स्तर पर अष्टावक्र सर्वांग सुन्दर एवं सन्तुलित है। अष्टावक्र को जनक जैसे प्रश्न करने वाले मिले थे। जनक स्वयं ज्ञानी थे। लेकिन ज्ञान कभी अपने आप में पूर्ण नहीं होता। यह जानते हुए राजा जनक इस बारह वर्षीय अष्टावक्र के पैर छूते थे। बारह साल के बालक में राजा जनक ने भगवत्ता के दर्शन किये।

अष्टावक्र के गर्भ के समय की घटना है। पिता पण्डित थे। वे रोज वेद का पाठ करते थे और अष्टावक्र गर्भ में सुनते थे। एक दिन अचानक गर्भ से आवाज आयी कि रूको ! यह सब बकवास है। इसमें ज्ञान नहीं, सिर्फ शब्दों का संग्रह है। ज्ञान शास्त्रों में नहीं, स्वयं में है। पिता के अहंकार को ये सुन चोट लगी। क्रोध में अभिशाप दे दिया कि जब पैदा होगा तो आठ अंगो से टेढ़ा होगा। इसलिए नाम पड़ा अष्टावक्र। जब अष्टावक्र बारह वर्ष के थे तब जनक के विशाल शास्त्रार्थ रचा। सारे देश के पण्डितों को आमन्त्रित किया। उन्होंने एक हजार गाये राजमहल के द्वार पर खड़ी कर दीं, उन गायों के सींगों पर सोना मढ़ दिया और कहा कि जो भी विजेता होगा वह इन गायों को ले जाये। बड़ा विवाद हुआ अष्टावक्र के पिता भी गये थे। हारने की नौबत आयी। अष्टावक्र ये खबर सुन राजमहल पहुंचे। पण्डितों ने उसे देखा। सारी सभा हंसने लगी। अष्टावक्र भी हंसे। जनक ने पूछा–आप क्यों हंसते हैं ? अष्टावक्र ने कहा – मैं इसलिए हंस रहा हूं कि इन चमारों की सभा में सत्य का निर्णय हो रहा है। जनक प्रभावित हुए। अपने राजमहल में बुलाकर संवाद किया।



अष्टावक्र ने कहा – 'हे प्रिय, यदि तू मुक्ति चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, आर्जव, दया, सन्तोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर। 'तू न पृथ्वी है, न जल है, न वायु है, न आकाश है। मुक्ति के लिए आत्मा को, अपने को इन सबका साक्षी चैतन्य जान।' 'यदि तू देह को अपने से अलगकर और चैतन्य में विश्राम कर स्थित है तो तू अभी ही सूखी, शान्त और बंध–मुक्त हो जाएगा।'

अष्टावक्र आगे कहते हैं –'मैं कर्त्ता हूँ, ऐसे अहंकार रूपी अत्यन्त काले सर्प से दंशित हुआ तू, मैं कर्त्ता नहीं हूँ, ऐसे विश्वास–रूपी अमृत को पीकर सुखी हो।' 'तू असंग है, क्रिया शून्य है, स्वयं–प्रकाश है और निर्दोष है। तेरा बन्धन यहीं है कि तू समाधि का अनुष्ठान करता है।'

इन सूत्रों में अष्टावक्र ने ध्यान सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण बातें कही – मुक्ति के लिए वैराग्य और सद्गुणों का आचरण। दूसरी बात कही – शरीर से स्वयं को भिन्न जानो। तीसरा सूत्र दिया–तू सिर्फ द्रष्टा है। न कर्त्ता न भोक्ता। तू विश्राम का अनुभव कर। समाधि का अनुष्ठान करना भी समाधि में बाधक है। बिल्कुल ठीक कहा। लेकिन तुम याद रखना कि यह नाव उस किनारे पहुंच गई है, तब कहे गए वचन है। साधक को द्रष्टा का अभ्यास करना चाहिए। देखे सब, लेकिन देखने वाले को न भूले, सुने सब, सुनने वाले को न भूलें। करे सब, लेकिन स्मरण रखे कि मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं द्रष्टा हूँ।

अष्टावक्र कहते है कि जो नित्य केवल आत्मा को देखते है वह न प्रसन्न होता है और न क्रुद्ध होता है–'आत्मानं केवलं पश्यन् न तुष्यति न कुष्यति।' आगे कहते है–**माया मात्र मिदं विश्वं पश्यन् विगत कौतुकः।**
अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीर धीः।

'जो इस विश्व को माया मात्र देखता है और जो कौतुक को पार कर गया है, क्या मृत्यु को पास आया हुआ देखकर वह भयभीत होगा ?' 'जिस महात्मा का मन मोक्ष में भी स्पृद्धा नहीं रखता, और जो आत्म ज्ञान से तृप्त है, उसकी तुलना किसके साथ हो सकती है।' यानि जो वासना से इतना पार हो गया कि मोक्ष की भी

वासना नहीं है। हो तो हो, न हो तो न हो – यह आत्यंतिक स्थिति है। जब मोक्ष की भी वासना नहीं होती, तभी मोक्ष फलित होता है। जो अपने आत्म ज्ञान से तृप्त है, जिसकी तुष्टि अपने में है– जो कहता है मेरा होना काफी है उसकी तुलना किसी से भी नहीं हो सकती।

अष्टावक्र कहते है असली बंधन 'चाह' है। 'यदा चित्त वांछति, तदा बंधः' जब तुम कुछ चाहते हो तब बंधन घटित होता है। बंधन से ऊपर उठना है तो चाह, वांछा के ऊपर उठो।

जीवन के ठीक से अवलोकन से किसी भाग्यशाली को ही जीने की वासना, भोगने की वासना और ज्ञान की वासना शान्त हुई है।

संदर्भ : अष्टावक्र गीता

अष्टावक्र मनुष्य को तीन प्रकार की वासना से ऊपर उठने को कहते है – जीवितेच्छा–जीने की वासना, बुभुक्षा–भोगने की वासना और तुभुत्सोपशमं गताः –ज्ञान की वासना। ज्ञान को पाने की इच्छा भी वासना है। इन तीनों से ऊपर उठने का उपाय बतलाया– लोक चेष्टावलोकनात्–जीवन के ठीक से अवलोकन करने से ये वासनाएँ शान्त होती है। तुम देखो किसकी वासना तृप्त हुई। आकांक्षा करने योग्य है क्या ? अपने आप तुम निर्वासना में प्रवेश करोगे।

'जो सुख–दुःख की भी उपेक्षा करता है, यथा प्राप्त वस्तुओं में सन्तोष करता है, ऐसा मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है।' सिद्धिका मन्त्र है–सुख–दुःख में सम रहो एवं जो मिले उसमें सन्तोष धारण करो।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ।

सत्य से योग सधता है।
सत्य से योग फलता है।
सत्य से योग बढ़ता है।
सत्य है – काया का सरलीकरण,
वाणी का सरलीकरण,
मन का सरलीकरण,
और कथनी–करनी का एकीकरण
जहाँ सत्य है, वहाँ भगवान् है।
सत्य को साध लो, स्वयं को पा लो।
सत्य को खोज लो, स्वयं को देख लो।।

9. महर्षि पतंजलि की दृष्टि में ध्यान

योग शब्द संस्कृत की 'युज्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है जोड़ना, मिलाना। महर्षि पंतजलि ने 'योगश्चित्त निरोधः' चित्त वृत्ति के निरोध को योग कहा है। अष्टांग योग में म. पंतजलि ने योग के आठ अंगों की बड़ी सटीक व्याख्या की एवं उसे प्रायोगिक अवदान दिया।

अष्टांग योग मुक्ति का मार्ग है, मोक्ष का साधन है, आत्मानंद की अनुभूति है। योग के आठ अंगों का विधिपूर्वक अभ्यास करने से निश्चित मनुष्य अपने उच्च लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाता है।

यहां संक्षेप में उस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है। पांतजल योग प्रदीप के कैवल्य पाद के २६ वें श्लोक में कहा गया है –

"योगांग्ङानुष्ठानाद शुद्धि क्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेक ख्याति।"

अर्थात् – योग के अंगों के अनुष्ठान ने अशुद्धि के क्षय होने पर ज्ञान की दीप्ति (प्रकाश) विवेक ख्याति पर्यन्त बढ़ जाती है।



म. पतंजलि के अनुसार योग के आठ अंग इस प्रकार कहे गये है –

"यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा यानसमाधयोळष्टावग्ङानि" अर्थात् – ध्यान, समाधि ये योग के आठ अंग है।

ये आठ अंग योगी के लिए विवेक ख्याति के साधन है। उनमें से धारणा, ध्यान और समाधि साक्षात् सहायक होने से योग के अन्तरंग साधन कहलाते है। यम नियम योग के रूकावट हिंसादि वितर्कों को निर्मूल कर समाधि को सिद्ध करते हैं। शेष आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार अगले अंकों में सहायक है अर्थात् आसन के जीतने पर प्राणायाम की स्थिरता होती है और प्राणायाम की स्थिरता से प्रत्याहर सिद्ध होता है।

आसन :-

"स्थिर सुखमासनम्" – सुखपूर्वक स्थिरता से बैठने का नाम आसन है।

शरीर की स्वाभाविक चेष्टा के शिथिल करने पर इनमें उपर म होने पर आसन की सिद्धि होती है। कम से कम एक प्रहर यानी तीन घंटे तक एक आसन से सुखपूर्वक और अचल भाव से बैठने को आसन सिद्धि कहते है। आसन अनेकों प्रकार के हैं। उनमें से आत्म संयम चाहने वाले पुरूष के लिए सिद्धासन, पद्मासन और भद्रासन ये तीन बहुत उपयोगी माने जाते है।

जिस आसन में जो पुरूष सुखपूर्वक दीर्घकाल तक बैठ सके, वही उसके लिए उत्तम आसन है।

प्राणायाम :-

प्राणायाम का अर्थ प्राणों का आयाम/अर्थात् प्राण का विस्तार, संयम, निरोध आदि। कहा है – " तस्मिन सति रयवासप्रश्वासयोर्गति–विच्छेदः प्राणायामः"

अर्थात् – आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति के निरुद्ध हो जाने का नाम प्राणायाम है। बाहरी वायु का भीतरी प्रवेश करना श्वास है और भीतर की वायु का बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनों के संयम, निरोध का नाम प्राणायाम है।

प्राणायाम के सिद्ध होने पर विवेक ज्ञान को आवृत्त करने वाले पाप और अज्ञान का क्षय हो जाता है तथा मन स्थिर होकर अमन बन जाता है।

प्रत्याहार :-

अपने अपने विषयों के संग से रहित होने पर, इन्द्रियों का चित्त के रूप में अवस्थित हो जाना "प्रत्याहार" है।

प्रत्याहार के सिद्ध होने पर प्रत्याहार के समय साधक को बाह्य ज्ञान नहीं रहता। व्यवहार के समय बाह्य ज्ञान होता है क्यों कि व्यवहार के समय साधक शरीर यात्रा के लिए प्रत्याहार को कम में नहीं लाता।

प्रत्याहार से इन्द्रियां एवं मन अत्यंत वश में हो जाता है अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

धारणा :-

धारणा, ध्यान और समाधिक ये तीनों योग के अंतरंग साधन है।

धारणा से ध्यान और समाधि होती है। **"देशबन्धस्यचित्तः**

धारणा" – चित्त को किसी एक देश विशेष में स्थिर करने का नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल सूक्ष्म या बाह्य आभ्यान्तर किसी एक ध्येय स्थान में चित्त को बांध देना, स्थिर करना धारणा है।

ध्यान :-

"तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्"

उक्त पूर्वोक्त ध्यये वस्तु की एकतानता का नाम "ध्यान" है। अर्थात् चित्त वृत्ति का गंगा प्रवाह की भांति या तैल धारावत् अविच्छिन्न रूप से निरन्तर ध्येय वस्तु में ही अनवरत लगा रहना "ध्यान" कहलाता है।

समाधि :- "तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्"

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः" – अपने स्वरूप में स्थित होना समाधि है। ध्यान ही समाधि बन जाता है, जब सारे आलम्बन छूट जाते है। समाधि में केवल ध्येय वस्तु ही रहती है। धारणा, ध्यान एवं समाधि तीनों एक हो जाती है। समाधि के अनेक भेद है। उसमें मुख्य दो भेद है – संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि। इनके अनेक भेद प्रभेद है।

सन्दर्भ : पातंजल योग प्रदीप

प्रस्तुति : समण सिद्धप्रज्ञ

योग का अथ-इति=प्रेम

योग का शुभारंभ होता है प्रेम से,
और निष्पत्ति होती है प्रेम में।
प्रेम का प्रथम चरण होता है बिन्दु सा,
और अन्तिम होता है सिन्धु सा।
जिसमें भेद का उत्तुंग हिमालय –
पिघल–पिघल कर बिखर जाता है।
शेष बचता है जो सपाट धरातल,
वही है महाशून्य, अद्वैत, शुद्ध चैतन्य।
इसी में से निकला यह स्वर कि – "सांई के सब
जीव हैं..................,
अतः सबसे प्रेम करो, बस प्रेम करो।
इसे ही महावीर ने कहा है – अहिंसा,
बुद्ध ने कहा है – करुणा,
क्राइस्ट ने कहा है – प्रेम,
मोहम्मद ने कहा है – रहम करो
और गीता ने कहा है – "अद्वेष्ट सर्व–भूतानाम्"
सब प्राणियों के प्रति समभाव।

- मुनि शुभकरण

10. संत कबीर की दृष्टि में ध्यान

मध्यकालीन भक्ति एवं आध्यात्मिक साहित्य में कवि, रचनाकार, संत, साधक, विचारक एवं समाज–निर्माता के रूप में जिन महापुरूषों ने अपनी पहचान दर्ज कराई, उनमें कबीर का नाम सर्वोत्तम है। उनके व्यक्तित्व में प्रखरता एवं वाणी में ओजस्विता तथा चेहरे पर तेजस्विता का अद्भूत संगम था। उन्होंने आत्म विश्वास, सजग दृष्टि एवं निर्भयता के द्वारा 15 वीं शताब्दी की सम्पूर्ण धर्म एवं समाज व्यवस्था को चुनौती दी। उन्होंने सामाजिक, कुरितियों, विरोधाभासों, अंधविश्वासों एवं गलत अवधारणा पर कड़े प्रहार कर शाश्वत मानवीय–मूल्यों के स्वीकार का उद्‌घोष किया था।

कबीरदासजी का जन्म उत्तरप्रदेश के काशी जिले में संवत् १४५५ ज्येष्ठ सुदी पूर्णिमा को हुआ।

कबीरजी का निर्वाण संवत् १५७५ माघ सुदी एकादशी को मगहर (उ.प्र.) में हुआ। ऐसा कबीर ग्रंथावली में लिखा है।



कबीरदासजी एक आत्मवादी एवं रहस्यवादी संत थे। उन्होंने ध्यान को सजगता भक्ति, प्रेम एवं सहजता के रूप में स्वीकार किया। वे सदा कहा करते थे कि

"सांस सांस में हरि भजो, व्यर्थ सांस मत खोय
ना जाने किण पल में आणो होय ना होय।।

अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को अपने प्रत्येक सांस में हरि अर्थात् आत्मा का ध्यान करना चाहिए। एक पल भी ऐसा नहीं होना चाहिए जिससे आत्मा का ध्यान न हो। क्योंकि सांस का कोई भरोसा नहीं है यह कब छूट जाए या हमें छोड़ दे, इसका कोई पता नहीं। अतः हरदम अपने प्रति सचेत, जागरूक एवं अप्रमत्त रहना चाहिए। अर्थात् अपने आप में रहना ही ध्यान है। संत कबीर स्वयं ध्यान मग्न रहते थे। ऐसा लगता है उन्होंने ध्यान के माध्यम से आत्मा एवं शरीर की भिन्नता का अनुभव किया हो। उन्हीं के शब्दों में उल्लेख मिलता है–

"नहीं खाल में नहीं पूंछ में, ना हड्डी ना मांस में।
मैं तो रहौं सहर मे बाहर, मेरी पुरी भवास में।

अर्थात् वे शरीर, त्वचा, हड्डी एवं मांस से परे आत्मा के स्वभाव के हरदम रहे।

जब कोई उनसे पूछता कि आपका नाम क्या है आप कहां के रहने वाले है, आपकी जाति क्या है ? तब आत्मानुभव के स्तर में उन्होंने कहा –

जाति हमारी आत्मा, प्रान हमारा नाम
अलख हमारा इष्ट है, गगन हमारा ग्राम।।

अर्थात् आत्मा मेरी जाति है, प्राण मेरा नाम है ज्ञान/ज्योति मेरा इष्ट है तथा आकाश मेरा गांव है।

कबीरजी जबरदस्ती शरीर को कष्ट देने में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने साधकों एवं जिज्ञासुओं को हठयोगियों की संगति से विरत रहने को कहा किन्तु साथ में यह भी कहा कि –

योगिया के नगर बसो मति कोई।
जो रे बसे सो योगिया होई।।

अर्थात् – जो योगी हठयोग की साधना से कार्य–क्रोध आदि को जीतकर तथा मन को अपने वश में करके समाधि में लीन होता है, उसका जीना सार्थक है।

संत कबीर एक सच्चे साधक थे। हर पल हर उपर साधना में ही गुजारने वाले थे। समाधि काल में भी तो झीनी–झीनी चदरियां बुनते समय भी। क्योंकि उनकी साधना ही ऐसी कि जिसे हर वक्त, हर कहीं किया जा सकता है। अत्यंत सहज साधना। खाते–पीते, नहाते–धोते, घर में बाहर, हर कहीं हर कोई कर सकता है।

वे कहते है –

जहं–जहं डोलौ सो परिकरया, जो कुछ करूं सो पूजा।
जब सोवौं तब करूं दण्ड़वत, भाव मिटावौ दूजा।

उनकी इस साधना में न तो आंख मूंदने की जरूरत है न कान सुनने की।

आंख न मुदौ, कान रूंधौ, काया कपट न धारौ। किसी प्रकार का कष्ट नहीं। अखण्ड, एक रस, निरन्तर चलने वाली साधना। प्रेक्षाध्यान की भाषा में भावक्रिया अर्थात् वर्तमान में जीना, जागते हुए कार्य करना।

प्रस्तुति : समण सिद्धप्रज्ञ

11. स्वामी रामकृष्ण परमहंस की दृष्टि में ध्यान

जन्म - सन् 1836 महासमाधि - सन् 1886

स्वामी रामकृष्ण परमहंस शास्त्र से भी सद्‌गुरु को महत्व अधिक देते है। उन्होंने कहा – शास्त्र का सार श्री सद्‌गुरु के मुख से जानकर फिर साधना का श्रीणेश करना चाहिए। उन्होंने कहा कि ईश्वर को शीघ्र पाने के लिए सरल बनना पहली शर्त है। तीन प्रकार के व्यक्तियों को उन्होंने ज्ञान प्राप्ति के लिए अपात्र घोषित किए –

1. जिसका मन टेढ़ा होता है।
2. जिसे छूआछत का रोग है।
3. जो संशयात्मा है।

वे कहते थे कि अन्तर से व्याकुल होकर परमात्मा को पुकारना चाहिए। जो अन्दर से पुकारेंगे उनकी पुकार वे अवश्य सुनेंगे। भोगवृत्तिप्रधान व्यक्ति की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा – विषय–बुद्धि रहने पर उपदेशों को धारण करना असंभव है, जैसे– नए बर्तन में दूध रखा जाता है, दही के बर्तन में रखने से खराब हो जाता है। विषयानंद और ब्रम्हानंद दोनों का अनुभव एक साथ कभी संभव नहीं है।



शुद्ध मन और शुद्ध बुद्धि तभी उत्पन्न होती है जब कामिनी और कांचन पर से आसक्ति हटती है। ऐसा अनासक्त व्यक्ति ही ईश्वर को देख सकता है। व्यक्ति जितना ईश्वर की तरफ बढ़ेगा उसके विचार उतने ही कम होते चले जाएंगे। उन्हें पा लेने पर फिर शब्द और विचार नहीं रह जाते। ध्यान के समय पहले पहल इन्द्रियों के सब विषय सामने आते है किन्तु ध्यान गहरा होने पर फिर नहीं आते, फिर मन बर्हिर्मुखी नहीं रहता।

ध्यान की अवस्था में मन तेल धारा की तरह हो जाता है। ईश्वर की अनुभूति के सिवाय दूसरा कोई चिन्तन नहीं रह जाता।

उनके अनुभव के अनुसार समाधि के बिना सच्चा ज्ञान असंभव है। समाधि में मनुष्य ईश्वर के साथ एक हो जाता है। उस स्थिति में अहंकार नहीं बचता। कामना के रहते हुए चाहे जितनी साधना की जाए किन्तु उससे सिद्धि नहीं मिल सकती। परन्तु एक बात है, ईश्वर की कृपा होने पर क्षण भर में सिद्धि मिलती है।

वे कहते थे जिसने ईश्वर के दर्शन नहीं किए उसका उपदेश असर नहीं करता। मैं उन पंडितों को जिनमें विवेक, वैराग्य और ईश्वर प्रेम नहीं है, उन्हें घास–फूस की तरह देखता हूं। ईश्वर दर्शन के बाद शास्त्र, विज्ञान आदि सब कुड़ा करकट जैसा लगता है। संसार में रहने वाला ज्ञानी कांच के घर में रहने वाले मनुष्य की तरह बाहर भीतर सब देखता है।

उनके आलौकिक और दिव्य विचारों से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि वे ईश्वर के प्रति समर्पित थे। परम तत्व की भक्ति उनके जीवन का पर्याय बन चुकी थी। ऐसी महान् आत्मा ने शिष्य नरेन्द्र को क्षण भर में समाधि की झलक दिखा दी थी और उन्हें विवेकानंद के रूप में प्रतिष्ठित किया था।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

शान्ति के लिये बाहर मत देख, तेरी आत्मा परम शांति का स्त्रोत है। तू उसे खोज। भौतिक सामग्री सुख दे सकती है, चिर-शान्ति नहीं। चिर शान्ति के लिए अपने अन्दर झांक, संतुलन का अभ्यास कर, तेरा कण-कण शान्तिमय बन जायेगा।

- आचार्य महाप्रज्ञ

12. दादू की दृष्टि में ध्यान

अहमदाबाद नगर के लोधीराम के पुत्र नहीं था। उसे पुत्र की बड़ी अभिलाषा थी, वह अपनी इच्छा पूर्ति के लिए संतों की सेवा करता रहता था। एक दिन उसे एक सिद्ध संत का दर्शन हुआ। उसने बड़े प्रेम से प्रणाम किया। संत ने प्रसन्न होकर कहा – जो इच्छा हो वहीं मांगो। लोधीराम बोला – और तो आपकी कृपा से ठीक है किन्तु पुत्र न होने से दुःखी हूं। संत ने कहा – तुम प्रातः साबरमती नदि पर स्नान करने जाते हो, वहां ही नदी जल पर तैरता हुआ एक बालक तुम्हें मिलेगा, उसे ही अपना पुत्र मानकर घर ले आना, वह महान ब्रह्मज्ञानी होगा। संत के कहने से वि.सं.१६०१ में प्रातःकाल पुनीत पुण्य नक्षत्र में अहमदाबाद में साबरमती नदी प्रवाह में कमल दल समुह पर तैरता हुआ बालक मिला, उसे लाकर अपनी पत्नी को दिया। बालक को देखकर वात्सल्य प्रेम से उसके स्तनों में दूध आ गया। बड़े स्नहे से बालक का लालन–पालन होता रहा। बालक का अधिकतर अपनी वस्तु अन्य को देने का स्वभाव देखकर लोधीराम ने "दादू" का नाम रख दिया। जब वे एकादश वर्ष के हुए तब एक दिन तीसरे प्रहर सायंकाल में कुछ पहले बालकों के साथ कांकरिया तालाब पर खेल रहे थे। उसी समय भगवान एक वृद्ध ऋषि के रूप में बालक के सामने प्रकट हुए। उन्हें देखकर अन्य बालक भाग गये किन्तु दादू ने भगवान को प्रणाम किया। भगवान ने सिर पर हाथ रखा। उसी समय दादू बोले – दादू गैब मांहि गुरुदेव मिल्या, पाया हम परसाद।" मस्तक मेरे कर धरया, दक्ष्या अगम अगाध।" फिर भगवान निर्गुण भक्ति का उपदेश दे, अन्तर्ध्यान हो गए। राजस्थान में फिर प्रचार करने की आज्ञा दी।



दादू सहज ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अन्य साधनों का आलम्बन न लेकर मनोवृत्तिरूप सुरति को अन्तर्मुख करके सहज ब्रह्म में लगाने का ही उपदेश करते हैं। इसी से पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच प्राण अन्तर्मुख हो जाते हैं व विषयों से निवृत्त हो जाते हैं। अतः यही वास्तविक अनुभूति, यही सच्चा उपदेश, यही उत्कृष्ट योग व परम वैराग्य है। जैसे :–

सब बातन की एक है, दुनिया तै दिल दूरि।
सांई सेती संग करि, सहज सुरति लय पूरि।।
दादू सेवा सुरति सों, प्रेम प्रीति सों लाइ।
जहँ अविनाशी देव है, तहँ सुरति बिनाको जाइ।
एक सुरति सों सब रहे, पंचों उन्मन लाग।
यहु अनुभव उपदेश यहु, यहु परम जोग वैराग।।

वृत्ति की अन्तर्मुखता के लिए सहज के प्रति प्रीति आवश्यक है और उसके लिए तीव्र विरह की भावना का जागृत होना आवश्यक है। इसीलिए वे कहते हैं –

प्रीति न उपजे विरह बिन, प्रेम भगति क्यों होइ।
सब झूठे दादू भाव बिन, कोटि करै जै कोई।।

इसकी साधना श्रवण से प्रारंभ होती हैं, क्रमशः नाम किर्तन, विरह एवं प्रीति को अपनाती हुई सुरति योग (लय–योग) में समाप्त होती है। लिखा है –

पहली श्रवण, द्वितीय रसन, तृतीय हिरदै गाइ।
चतुर्थी चेतन भया, तब रोम रोम ल्यो लाइ।
पहिली आगम विरह का, पीछे प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लै लीन मन, तहाँ मिलन की आस।।

दादू की साधना पद्धति में सर्वस्व समर्पण तथा दीनता की भावना का बाहुल्य है। इसमें बाह्य साधनों व आडम्बरों का सर्वथा अभाव है। उनका आराध्य, उपासना, पूजा, आरती सभी आन्तरिक है। इसीलिए उन्होंने बाह्य मिथ्याडम्बरों को अपनाने वाले तात्कालीक जोगियों को लक्ष्य करके कहा है कि सींगी, मुद्रा, कन्था, आसन, वन, गुहा आदिनाथों के बाह्य साधनों के स्थान पर सहज समाधि रूपी मुद्रा, धैर्य रूपी कन्था, काया रूपी वन–खण्ड, ज्ञानरूपी गुहा आदि आन्तरिक साधना परमात्मा के साक्षात्कार के लिए अपनानी चाहिए। ऐसा करने वाला ही वास्तविक योगी है।

दादू ने कहा है कि परमात्मा हृदय की गुफा में है, उसे बाहर मत खोजो।

केई दौड़े द्वारिका, कोई काशी जाहिं।
केई मथुरा कूं चले साहिब घट ही मांहिं।।

आत्मजिज्ञासुको चाहिए, गुरु–मुख सुने हुये यम–नियमादि साधन–पथ द्वारा समाधि में जाकर अन्तःकरण को शुद्ध और स्थिर करे, फिर गुरुदेव के ज्ञान दिपक से अपना आत्मज्ञान–दीपक जगावे और उसकी सहायता से निविर्कल्पावस्था में आकर अपने प्रियतम ब्रह्म का दर्शन करें। लिखा हैं –

दीवै दीवा कीजिये, गुरुमुख मार्ग जाइ।

दादू अपने पीव का, दरशन देखै आइ।।

किसी प्रश्न के उत्तर में दादू ने कहा – हमारा मन ही हमारी माला है और जहां सूर्य स्वर–दिन, चन्द्र स्वर–रात्रि नहीं रहती उस सुसुम्नानाडी पथ में स्थिर होकर अजपा जाप जपते हैं। हमारे गुरु ने वहां ही जप करने की दीक्षा का भेष दिया है। जैसे कस्तूरिया मृग की नाभि में कस्तूरी होती है और वह उसे बाहर घास में खोजता है, वैसे ही उपास्य को बाहर खोजने वालों का भ्रम दूर कर रहे हैं – भीतर सात्विक श्रद्धायुक्त चित्त ही शिष्य है, ज्ञानयुक्त मन ही गुरु है, विचार ही उपदेश है, आत्मस्वरूप ब्रह्म ही उपास्य है। किन्तु अज्ञानीजन केशों की जटा बढ़ाने आदि भेष बनाकर ब्रह्म को बाहर देशान्तरों में खोजते हैं। जो गुरु होने योग्य न होकर शिष्य बनाते हैं, उन्हें कह रहे हैं – सद्गुरु के उपदेश द्वारा अपने मन के मिथ्या अहंकार रूप ये काम, क्रोध, विषय–विकरादि सब काट करके प्रथम उसे ही शिष्य बनाओं। लिखा हैं–

मन का मस्तक मूंडिये, काम क्रोध के केश।

दादू विषै विकार सब, सद्गुरु के उपदेश।।

सभी मन की इच्छानुसार विषयों में रमण करते हैं। गुरुवचन में दृढ़ श्रद्धा रख कर मन की विषयाशा त्यागने वाला कोई विरला ही साधक होता है। जो मन की अनुचित बात नहीं मानता और गुरु–उपदेशसानुसार चलता है, वही सद्गुरू का सच्चा शिष्य है। लिखा है –

मन के मतै सब कोई खेलै, गुरुमुख विरला कोई।

दादू मन की मानैं नहीं सतगुरु का शिष्य सोई।।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

परिग्रह-विग्रह

योगी होता है – अपरिग्रही।

अनाग्रही और असंग्रही।

सबका उपग्रही।

वह रहता है जल में कमल – पत्र की भांति अलिप्त,

सदा परम दीप्त,

अविक्षिप्त।

क्योंकि वह जानता है कि जो मेरा नहीं है,

उसमें मेरेपन का आरोप ही बन्धन है।

संतपन और भव – भ्रमण है।

यही परिग्रह है, माया है।

समस्त ग्रहों से भी क्रूरतम ग्रह है।

भयंकर विग्रह है।

13. श्रीमद् राजचन्द्र की दृष्टि में ध्यान

जन्म : कार्तिक सुद १५ सं.१६२४ निधन : चेत विद ५ सं. १६५७

श्रीमद् राजचन्द्र का जन्म संवत् 1924 में गुजरात के ववाणिया गांव में हुआ। उनके पिता कृष्ण भक्त थे इसलिए श्रीमद् के अन्तर्मन में उनके संस्कार निर्मित हुए थे। धीरे–धीरे जैनों के वातावरण ने उनके मन में जैन धर्म की जिज्ञासा को उद्‌भूत किया। काफी जैन साहित्य का अध्ययन किया। छोटी उम्र में जाति स्मरण ज्ञान हुआ और वहीं से उनकी आध्यात्मिक यात्रा तीव्र बनी। छोटी उम्र में "आत्मसिद्धि शास्त्र" जैसे अद्‌भूत ग्रंथ की रचना की। अपूर्व अवसर बहुपुण्य केरा पुंज थी आदि गुजराती काव्य आज समग्र जैन एवं पटेल समाज में आदर से ग्राह्रय हुए हैं।

जहां तक ध्यान का प्रश्न हैं, इतनी बात निश्चित है कि उन्हों स्वतंत्र रूप से ध्यान की कोई विशेष विधियों का प्रतिपादन नहीं किया। किन्तु उनकी जीवन दशा देखते हुए लगता है कि पूर्व जन्म के शुभ संस्कारों के साथ वर्तमान जीवन में भी उन्होंने ध्यान की गहन साधना की थी। उनके ग्रंथों एवं पत्रों को पढ़ने से लगता है कि वे आत्मा की उच्चतम दशा में पहुंच गये थे। ध्यान संबंधी उनके विचार यहां प्रस्तुत किये जा रहे है।



"एक अद्‌भूत घटना है कि बांइ आंख में चार–पांच दिन से एक छोटे चक्र समान बिजली जैसी चमक का अनुभव हो रहा है। जो आंख से थोड़ी दूर जाकर अदृश्य हो जाता है। ऐसी स्थिति लगातार पांच मिनट तक रहती है। निमित्त कारण का पता नहीं चलता है। ये आश्चर्यकारी स्थिति है। आंख में किसी प्रकार की रूग्णता नहीं है। प्रकाश एवं दिव्यता विशेष रहती है। अंतःकरण में विशेष प्रकार के प्रकाश की अनुभूति एवं शक्ति की तीव्रता का बोध हो रहा है। ध्यान समाधि में ही रहता है।"

श्रीमद् ने अपने ग्रंथ में एक जिज्ञासु के प्रश्न के उत्तर में लिखा है – "निरन्तर समाधि में रहो। देह दर्शन से चित्त को हटाकर आत्मदर्शन में स्थिर करो। समाधि के लिए शारीरिक स्थिरता आवश्यक है। स्थिर शरीर की अवस्था में आंखें मुंदकर नाभि पर दृष्टि स्थिर करो। बाद में क्रमशः छाती पर एवं ललाट पर चित्त को एकाग्र कर जगत की शून्यता का अनुभव करो। पूरे शरीर में अपूर्व तेज का अनुभव करो। ऐसा न हो सके तो प्रातः ध्यान मुद्रा में अर्हत स्वरूप का चिन्तन करो। यह भी न हो सके तो बोधि या समाधि का चिन्तन करना।"

श्रीमद् ने लिखा है कि "तत्वज्ञान की गुफा में प्रवेश करने पर ऐसी ध्वनि सुनाई देगी कि "आप कौन है ? कहां से आएं हो ? क्यों आएं हो ? आपके इर्द–गिर्द सब क्या है। स्वयं की स्वयं को प्रतीति है ? आप विनाशी या अविनाशी है या फिर त्रिराशी ? ऐसे अनेक प्रश्न ह्रदय की गुफा में ध्वनि के द्वारा प्रवेश करेंगे। जब ऐसे प्रश्नों में आत्मा स्थिर होती है तो दूसरे विचारों को आने का अवकाश नहीं मिलेगा। ऐसे विचारों के विवेक से अव्याबाध सुख की प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति के लिए गहन अभ्यास की आवश्यकता है।

अपने "पत्र शतक" में श्रीमद् ने लिखा है – मेरी एक मात्र इच्छा संकल्प–विकल्प रहित अवस्था पाने की हैं। मैं पूर्व कर्मो के उदय के कारण विचरण कर रहा हूं। मुक्ति की इच्छा वाले को संकल्प–विकल्प, राग–द्वेष छोड़ना चाहिए। श्रीमद् ने कहा है कि कैसे भी करके राग–द्वेश से रहित होना ही मेरा धर्म है। उपयोग ही साधना है। विशेष साधना सत्पुरूष के चरण कमल है। जगत के किसी भी पदार्थ, संबंधी, परिवारजन, मित्रों आदि के प्रति हर्ष–शोक करना योग्य नहीं है। परम शांति पद को पाना ही अपना धर्म है। मैं किसी गच्छ में नहीं हूं किन्तु आत्मा में हूं। यह भूलना मत। देह धर्म के उपयोग के लिए है, तो देह को धारण करना भी धर्म ही है।

श्रीमद् ने वचनावली में लिखा है – जीव स्वयं को भूलने का अज्ञान, ज्ञान मिलने पर नष्ट हो जाता है। ज्ञान की प्राप्ति ज्ञानी के पास रहने से होती है फिर भी भूल गया है इसी से सुख वियोग हुआ है। अपने को

जीव लोक–लज्जा के कारण अज्ञानी का आश्रय करता हैं। यही अनंतानुबंधी कषाय का मूल है। ज्ञान पाने के लिए ज्ञानी की आज्ञा में चलो। स्वयं की इच्छा अनादि में भटकाती है। जब तक प्रत्यक्ष ज्ञानी की आज्ञा से नही चलेंगे तब तक अज्ञान की निवृत्ति संभव नहीं है।

आत्म–साधना के लिए मनोनिग्रह आवश्यक हैं। मनोनिग्रह के लिए अष्टादश विघ्नों पर विजय पाना जरूरी है वे विघ्न इस प्रकार है :–

1. आलस्य
2. अनियमित निद्रा
3. अति आहार
4. उन्माद
5. माया–प्रंपच
6. अनियमित काम
7. अकरणीय विलास
8. मान
9. मर्यादा से अधिक कार्य
10. अपने मुंह अपनी प्रशंसा
11. तुच्छ वस्तु में आनंद
12. रस लोलुपता
13. अतिभोग
14. दूसरों का अनिष्ट सोचना
15. बिना कारण रोना
16. अति स्नेह
17. अयोग्य स्थानों में जाना
18. एक भी उत्तम नियम सिद्ध न करना

श्रीमद्जी ने अपने आत्मसिद्ध काव्य में व्यवहार और निश्चयनय का सुन्दर समन्वय किया है। वे जड़ क्रियाएं एवं शुष्क ज्ञान को मोक्ष का मार्ग मानने से इन्कार करते है। लिखा है –

कोई क्रिया जड़ थई रहया, शुष्क ज्ञान मां कोई।
माने मारग मोक्षनो करूणा, उपजे जोई।।

ज्ञान प्राप्ति के लिए उन्होंने वास्तविक वैराग्य पर बल देते हुए लिखा है कि जिसके चित्त में त्याग–वैराग्य वृत्ति का अभाव हैं, वे यदि बाहर से वस्तु का त्याग करते है तो ऐसा त्याग ज्ञान का हेतु नहीं बनता। लिखा है –

त्याग-विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान।
अटके त्याग विराग मां, तो भूले निज भान।।

आत्मज्ञान के लिए इस पंचम काल में सद्गुरु की उपासना एवं सत्संग को श्रीमद् ने अनिवार्य माना है। श्रीमद्जी ने सच्चे सद्गुरु के पांच लक्षण बतलाएं हैं –

आत्मज्ञान, समदर्शिता, विचरे उदय प्रयोग।
अपूर्ण-वाणी, परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य।।

पहला लक्षण–आत्मज्ञान। दूसरा–समदर्शिता। तीसरा विचरे उदय प्रयोग यानी पिछले जन्मों के कर्म के कारण ही वे विचरते हैं। चौथा– अपूर्ण–वाणी और पांचवा परम–श्रुत। इन पांच लक्षणों से युक्त महापुरुष ही सद्गुरु हैं। उनकी उपासना करने से एवं उनके ज्ञान का सत्संग करने से साधक में आत्मज्ञान की योग्यता प्रकट होती हैं।

इस प्रकार की उच्च साधना से श्रीमद्जी ने अपने महामूल्य मानव जीवन को सार्थक किया एवं असंख्य भव्य जीवों के लिए उनकी वाणी आज भी प्रेरणा बन रही हैं। ऐसी साधना हमारे भीतर जन्में जिससे हम न केवल उनके अनुयायी कहलाएं किन्तु स्वयं उनकी तरह आत्म ज्ञान के अधिकारी बन सकेंगे।

समाधि की परिभाषा देते हुए श्रीमद् ने लिखा है– "आत्मा से मोह का चला जाना यही समाधि है।" केवल ज्ञान के लिए आत्मा की भावना को उन्होंने महत्वपूर्ण माना है। लिखा है – "आत्म भावना भावता जीव लहें केवल ज्ञान। ध्यान की निष्पति के संबंध में लिखा है – "एक चित्त से आत्मा का ध्यान करो। प्रत्यक्ष अनुभव होगा। ध्यान के संबंध में बहुत गहरी बात लिखते है कि– ध्यानदशा पर जितना लक्ष्य रखते हो, उससे भी अधिक आत्मस्वरूप पर लक्ष्य रखो। इससे उपशांत भाव स्वयं सिद्ध होगा। समस्त आत्मा को एक दृष्टि से देखोंगे। यदि एक चित्त से अनुभव हो तो आत्मस्वरूप की इच्छा अमर होगी। यह अनुभव सिद्ध वचन है।

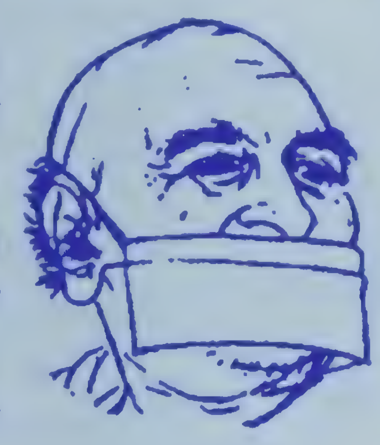
प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

14. आचार्य तुलसी की दृष्टि में ध्यान

जन्म सन् 1914 **निर्वाण सन् 1997**

प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया :

प्रेक्षाध्यान की पद्धति कठिन से कठिन और सरल से सरल है। सरल इतनी कि एक छोटा बच्चा भी इसका अभ्यास कर सकता है। कठिन इतनी कि बहुत वर्षो से साधना करने वाले साधक भी चित्त की एकाग्रता को नहीं साध पाते। प्रेक्षाध्यान का प्रथम चरण है कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग के बिना ध्यान की गहराई में नहीं उतरा जा सकता। कायोत्सर्ग के बाद श्वास को आलम्बन बनाकर ध्यान किया जाता है। इसे श्वास प्रेक्षा कहा जाता है। इसमें श्वास लेने की विधि का प्रशिक्षण दिया जाता है। दीर्घ श्वास–प्रेक्षा में श्वास को दीर्घ बनाकर मन को वहां केन्द्रित किया जाता है। समवृति श्वास प्रेक्षा में एक नासिका से श्वास लेकर दूसरी नासिका से श्वास छोड़ा जाता है। श्वास प्रेक्षा के साथ अन्तः कुम्भक और बाह्य कुम्भक का अभ्यास किया जाता है।



शरीर प्रेक्षा में चैतन्य केन्द्रों की प्रेक्षा की जाती है। ज्ञान केन्द्र, शांति केन्द्र, दर्शन केन्द्र, ज्योति केन्द्र, चाक्षुष केन्द्र, प्राण केन्द्र, ब्रह्म केन्द्र, विशुद्धि केन्द्र, तैजस केन्द्र, शक्ति केन्द्र और अप्रमाद केन्द्र–इन तेरह केन्द्रों पर ध्यान का प्रयोग भिन्न–भिन्न दृष्टियों से उपयोगी है। कुछ केन्द्रों पर ध्यान करने से स्वभाव परिवर्तन की अकल्पित घटनाएं घटित होती देखी गई है।

कायोत्सर्ग में अन्तर्यात्रा का प्रयोग वृत्तियों की अन्तर्मुखता और ऊर्जा के ऊर्ध्वारोहण में निमित्त बनता है। लेश्याध्यान के प्रयोग व्यक्तित्व के रूपान्तरण में बहुत सफल रहते हैं। निष्ठा के साथ निरन्तर अभ्यास से ध्यान की जो निष्पतियां आती हैं, ध्यान साधकों को कुछ अनूठे अनुभव दे जाती है।

प्रेक्षाध्यान की प्रासंगिकता का एक महत्वपूर्ण कारण है इसकी वैज्ञानिकता। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका मूल्यांकन वे साधक करते हैं जो ध्यान की गहराई में उतर जाते हैं। शरीर विज्ञान की दृष्टि से इसका प्रभाव छोटे से छोटे प्रयोग में भी परिलक्षित हो जाता है। दस दिवसीय ध्यान शिविरों में जो लोग साधना करते हैं, वे शत् प्रतिशत नहीं तो अस्सी प्रतिशत तो लाभ का अनुभव अवश्य करते हैं। अस्वस्थता में सब प्रकार के उपचार कराने पर भी सफलता नहीं मिलती हैं, तब विवश होकर शिविर में आते है। काश! अस्वस्थ होने से पहले ही मनुष्य आसन, प्राणायाम, ध्यान अनुप्रेक्षा आदि का अभ्यास करता रहे तो अस्वस्थता की समस्या जटिल बने ही क्यों ? पर मानवीय प्रकृति की दुर्बलता है कि वह कष्ट आने के बाद ही उसके निवारण का उपाय सोचता है।' जो सुख में सुमिरण करै, दुःख काहे को होय'–यह जनश्रुति अक्षरशः सही प्रतीत होती है।

प्रेक्षा व्यक्ति को स्वस्थ बनाती है

प्रेक्षा का उद्देश्य अस्वस्थता को दूर करना नहीं, स्वस्थता–आत्मस्थता का वरण करना है। व्यक्ति को आत्मस्थ बनाने की जितनी सरल प्रक्रिया प्रेक्षाध्यान है, दूसरी दुर्लभ है। कमी एक ही है कि अब तक भी इसके बारे में लोगों को पूरी जानकारी नहीं है। प्रेक्षाध्यान पर जितना अधिक काम हो रहा है, इसकी उपयोगिता निर्विवाद रूप में बढ़ती जा रही है। प्रेक्षाध्यान शिविरों में प्रबुद्ध लोगों की उपस्थिति इस बात को प्रमाणित कर रही है। समण श्रेणी की विदेश यात्रा ने प्रेक्षाध्यान को सात समुद्र पार तक पहुंचा दिया।

प्रेक्षाध्यान और अणुव्रत

प्रेक्षाध्यान की आधारभूमि है– संपिक्खए अप्पगमप्पएणं– आत्मा से आत्मा को देखना। इसका लक्ष्य है–अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए–सत्य की खोज और सबके साथ मैत्री का भाव। इसकी प्रक्रिया है–आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं–विद्या और आचार का अनुशीलन। यही दुःख मुक्ति का अमोघ उपाय है। मनुष्य की जीवन धारा जिस दिशा में प्रवाहित

हो रही है। प्रश्न हो सकता है कैसे बदलें जीवन धारा? इसका सीधा–सा समाधान है–प्रेक्षाध्यान साधना द्वारा।

प्रेक्षाध्यान की पृष्ठभूमि में अणुव्रत का अनुशीलन आवश्यक है। पंतजलि के अष्टांग योग में यम–नियम का जो स्थान है, वही स्थान प्रेक्षाध्यान की साधना में अणुव्रत का है। अणुव्रत को आत्मसात किए बिना प्रेक्षाध्यान सफल नहीं हो सकता और प्रेक्षाध्यान की साधना के बिना अणुव्रतों का आचरण सहज नहीं बन पाता इस अर्थ में अणुव्रत और प्रेक्षा को एक–दूसरे का पूरक मानना चाहिए।

ध्यान के बारे में एक भ्रांति यह है कि इस का प्रयोग योगी करते हैं। पहाड़ों, कन्दराओं और जंगलों में ध्यान की साधना होती है। हमने इस भ्रांति को तोड़ा है। हमारा अभिमत है कि कोई भी व्यक्ति ध्यान कर सकता है और किसी भी स्थान में ध्यान किया जा सकता है। यह न तो केवल योगियों की साधना है और न ही इसका पहाड़ों या जंगलों से कोई संबंध है। यह जीने की पद्वति है, व्यक्तित्व को रूपान्तरित करने का प्रयोग है। इच्छाशक्ति, संकल्पशक्ति और प्रयोग की निरन्तरता–ये तीनों बातें हो तो कोई भी व्यक्ति ध्यान का अच्छा साधक बन सकता है। प्रारम्भ में पथदर्शन की अपेक्षा प्रायः सभी को रहती है।

प्रेक्षाध्यान के संबंध में साहित्य भी प्रचुर मात्रा में है। ध्यान के प्रति आस्था, ध्यान से संबंधित साहित्य का स्वाध्याय और निर्विकल्प भाव से किया गया प्रयोग साधक को अन्तर्मुखता के द्वार तक पहुंचा सकता है।

आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व

अन्तर्मुखता से आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। कोरी आध्यात्मिकता गुहावासी संत सन्यासियों के लिए उपादेय हो सकती है, पर उससे हर व्यक्ति लाभान्वित नहीं हो सकता। कोरी वैज्ञानिकता वैज्ञानिकों के लिए ग्राह्रय हो सकती है पर उससे भी आम आदमी का काम नहीं चल सकता। आज अपेक्षा है अध्यात्म और विज्ञान के समन्वय की। इन दोनों का लक्ष्य है सत्य की खोज में नई दिशाएं खोलना, प्रयोग करना, परीक्षण करना, निष्कर्ष निकालना। अध्यात्म के क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का निर्माण ही आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व का निर्माण है।

प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में जेठा भाई जवेरी ऐसे व्यक्ति थे, जिनको मैने पहली बार 'आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व' इस सम्बोधन से सम्बोधित किया। मोहनलालजी काठोतिया इस कोटि के दूसरे व्यक्ति थे। उनके लिए मैंने उक्त सम्बोधन का प्रयोग किया। ऐसे व्यक्तियों की एक लम्बी पंक्ति तैयार हो, इस दृष्टि से प्रेक्षाध्यान के साधकों को लक्ष्यबद्ध दिशा में प्रस्थान करना है।

सन्दर्भ : प्रेक्षाध्यान धवल विशेषांक

प्रस्तुति : महाश्रमणी साध्वी प्रमुखा कनकप्रभा

15. आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि में ध्यान

जन्म : विक्रम संवत् १६७७

आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने आगमों का गहन अध्ययन एवं मनन करके 1975 में आचार्य श्री तुलसी के सान्निध्य में प्रेक्षाध्यान पद्वति का प्रवर्तन किया।

आचार्य महाप्रज्ञ ने योग की गहन साधना की है

उन्होंने ध्यान के प्रयोगों को आध्यात्मिक आधार एवं वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान की। प्रेक्षाध्यान के रूप में विकसित साधना गृहस्थ के लिए गृहस्थ में रहते हुए भी आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रायोगिक शैली है। इस पद्वति ने अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को ध्यान की ओर आकर्षित किया है। यहां प्रस्तुत है प्रेक्षाध्यान के प्रति आचार्य महाप्रज्ञजी का चिन्तन

प्रेक्षाध्यान पद्वति केवल दर्शन और केवल ज्ञान की पद्वति है, केवल दर्शन और केवल ज्ञान तक पहुंचने के लिए चित्त शुद्धि आवश्यक है। चित्त शुद्धि के लिए प्रेक्षाध्यान के विविध प्रयोगों का आलम्बन लिया जा सकता है –



1. दीर्घश्वास प्रेक्षा
2. समवृतिश्वास प्रेक्षा
3. शरीर प्रेक्षा
4. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा
5. लेश्याध्यान
6. अनुप्रेक्षा
7. विचार प्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान का ध्येय : ध्यान करने वाले व्यक्ति को ध्येय का निश्चय करना जरूरी है। ध्यान का मुख्य ध्येय है – आध्यात्मिक विकास।

आध्यात्मिक विकास की अनेक रेखाएँ हो सकती है–

1. मन को निर्मल करना
2. सुप्त चेतना और शक्ति को जागृत करना
3. वर्तमान में रहने का अभ्यास करना
4. मस्तिष्क की तरंगों पर नियन्त्रण
5. स्वतः चालित नाड़ी–संस्थान पर नियन्त्रण

5. स्वतः चालित नाड़ी–संस्थान पर नियन्त्रण

6. विपाक या अन्तःस्रावी रसायनों पर नियन्त्रण।
7. प्राणशक्ति का विकास, प्राण का ऐच्छिक प्रेषण।

प्रेक्षाध्यान की कसौटियाँ : ध्यान जीवन का समग्र दर्शन है, उसका प्रभाव हर प्रवृत्ति पर होता है। प्रभाव को जानने की कुछ कसौटियाँ ये हैं :–

1. आहार संयम
2. वाणी संयम
3. जागरूकता का विकास
4. दुःख अथवा प्रतिकूल संवेदन की कमी
5. दौर्मनस्य–इच्छाभिघात से होने वाले चित्तक्षोभ में कमी
6. श्वास की संख्या में कमी
7. संवेदनशीलता या करूणा का विकास

ध्यान का उद्देश्य : प्रेक्षाध्यान की पद्वति में ध्यान का प्रमुख उद्देश्य है निर्जरा, आत्मशोधन आश्रव–निरोध। जैसे–जैसे आत्मशोधन होता है वैसे–वैसे संवर अथवा निरोध अपने आप सध जाता है।

प्रासंगिक उद्देश्य चार हैं :–

1. स्वभाव परिवर्तन
2. मानसिक शान्ति
3. आरोग्य
4. अतीन्द्रिय ज्ञान

ध्यान के परिणाम : ध्यान के परिणाम का केवल वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं, आध्यात्मिक दृष्टि से भी मूल्यांकन करना आवश्यक है –

1. बहिर्मुखी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी बन जाती है।
2. भावशुद्धि हो जाती है।
3. जैसे–जैसे एकाग्रता सधती है, वैसे–वैसे दुःख कम हो जाता है।
4. अतीन्द्रिय शक्ति का विकास होता है।

प्रेक्षाध्यान के मुख्य प्रयोग :

अर्हम् : प्रेक्षाध्यान केवल एकाग्रता का प्रयोग ही नहीं है, वह जीवन का समग्र दर्शन है। उसमें ध्वनि, मंत्र आदि के विशेष प्रयोग भी करवाये जाते है। "अर्हम्" उसका एक महत्वपूर्ण प्रयोग है। 'ॐ' जैसे परमेष्ठी का

वाचक है वैसे ही "अर्हम्" भी परमेष्ठी वाचक है। इससे ध्यान की शुद्धि होती है– "एतेनाद्भुतमंत्रेण ध्यानशुद्धिः परा भवेत" नासाग्र पर इसका ध्यान करना बहुत उपयोगी है। "ॐ" अर्ह– संयुक्त रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

महाप्रयाण ध्वनि :– महाप्राण ध्वनि का अभ्यास एकाग्रता के लिए बहुत उपयोगी है। इसका प्रयोग करते समय अन्य विकल्प और विचार उपशान्त हो जाते हैं। तनाव मुक्ति के लिए भी इसका बहुत महत्व है। ध्वनि, भावना और एकाग्रता– तीनों का योग तनाव को विसर्जित कर देता है।

कायोत्सर्ग :– शरीर के प्रत्येक अवयव में चेतना है, प्राण का प्रवा है। चेतना है इसलिए प्रत्येक अवयव हमारे निर्देशों, सुझावों का पालन करता है। प्राण का प्रवाह है इसलिए प्रत्येक अवयव में क्रिया है, शक्ति है। शरीर को शिथिल कर कायोत्सर्ग की स्थिति में जो सुझाव दिया जाता है वह शीघ्र क्रियान्वित हो जाता है। जिस अवयव पर ध्यान दिया जाता है, उसकी शक्ति बढ़ जाती है। कायोत्सर्ग शरीर–प्रेक्षा की पूर्व अवस्था है। इस अवस्था में दिया जाने वाला सुझाव बहुत ही कार्यकारी होता है।

अन्तर्यात्रा :– अन्तर्मुख होने का एक महत्वपूर्ण उपाय है अन्तर्यात्रा। पृष्ठरज्जु का प्रदेश ध्यान– साधना की दृष्टि से बहुत मूल्यवान है योगशास्त्र के अनुसार इड़ा और पिंगला का प्राण–प्रवाह शरीर की सक्रियता का प्रवाह है। सुषुम्ना निष्क्रियता या निवृत्ति का प्राणप्रवाह है। एकाग्रता, सघन एकाग्रता और निर्विचारता इन तीनों की साधना सुषुम्ना के प्राण प्रवाह की अवस्था में सम्यक् प्रकार से हो सकती है।

श्वास कैसे लें ? :– अनेच्छिक श्वास स्वयं आता है। जब स्वयं आने वाला श्वास दीर्घ न हो, उस समय प्रयत्नपूर्वक उसे दीर्घ किया जाता है।

वास्तव में दीर्घ श्वास ही सहज श्वास है। बच्चे का श्वास सहज श्वास होता है। यह दीर्घश्वास है, यही सहज श्वास है। शरीर शास्त्र की भाष में इसे Diphrametic Btreathing कहते हैं।

श्वास या आलम्बन :– अशुद्ध आलम्बन पर होने वाली एकाग्रता ध्यान है पर वह साधना के क्षेत्र में वांछनीय नहीं है।

राग–द्वेष से मुक्त आलम्बन वाली एकाग्रता की अध्यात्म साधना के क्षेत्र में वांछनीय है।

ध्यान के प्रारंभ में श्वास का आलम्बन लिया जाता है। श्वास के प्रति हमारा न राग होता है और न द्वेष। वीतराग दशा की ओर प्रस्थान करने के लिए श्वास का आलम्बन एक महत्वपूर्ण उपाय है।

समवृत्ति श्वास :– नाड़ी शुद्धि का विकल्प है समवृत्ति श्वास। तीन मास अथवा छः मास तक निरन्तर समवृत्ति श्वास का प्रयोग किया जाए। प्रयोग का कालमान कम से कम दस मिनिट होना चाहिए।

योग साधना के अति अभ्यास अथवा किसी त्रुटि के कारण जो शारीरिक अथवा मानसिक अव्यवस्था हो जाती है उसके लिए यह प्रयोग नाड़ी शोधन प्राणायाम् के समान लाभ प्रदान करता है।

शरीर प्रेक्षा :– शरीर प्रेक्षा का प्रयोग सिर अंगुष्ठ तक और अंगुष्ठ से सिर तक दोनों प्रकार से किया जा सकता है। शरीर प्रेक्षा में शरीर में होने वाले सूक्ष्म स्पंदनों की प्रेक्षा की जाती है।

चैतन्य केन्द :– आत्मा और चैतन्य पूरे शरीर में व्याप्त है। फिर भी शरीर के कुछ भाग ऐसे है जहां चैतन्य विरल रूप में व्याप्त है। और कुछ अवयव ऐसे हैं जहां चैतन्य सघन रूप से व्याप्त है। जहां चैतन्य सघन होता है वह स्थान आयुर्वेद की भाषा में मर्मस्थान और हठयोग की भाषा में चक्र कहलाता है। प्रेक्षाध्यान की पद्धति में उसे चैतन्यकेन्द्र कहा जाता है।

लेश्या ध्यान :– लेश्या ध्यान के द्वारा शरीर के रंगों का संतुलन किया जाता है। रंग की कमी–पूर्ति के लिए लेश्या ध्यान और उसी रंग के श्वास का प्रयोग महत्वपूर्ण है। इससे आभा मण्डल निर्मल बनता है।

सन्दर्भ ग्रंथ : भीतर की ओर

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

16. विपश्यना ध्यान पद्धति

आज ध्यान की बहुत सारी प्रणालियां प्रचलित है। उसमें एक प्रणाली है – विपश्यना। यह बौद्ध–ध्यान की प्रणाली है। बर्मा में बौद्ध परम्परा में प्रचलित इस ध्यान पद्धति का हिन्दुस्तान में करीब पिछले तीस वर्षो से प्रचार–प्रसार हो रहा है, हिन्दुस्तान में इस ध्यान पद्धति के शिविरों का संचालन श्री गोयन्काजी १६६६ जुलाई से कर रहे हैं। प्रथम शिविर का संचालन बोम्बे में उन्होंने जुलाई १६६६ में किया।

श्री गोयन्काजी मायग्रेन–आधाशीशी जैसे भंयकर सिर दर्द की वेदना से काफी पीड़ित थे। देश–विदेश में उपचार के अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी वे स्वस्थ नहीं हो पाये। बर्मा के सुप्रिम कोर्ट के जज ने उनको इन्टरनेशलन मेडीटेशन सेन्टर में गृहस्थ संत श्री उबाखिन के पास विपश्यना के प्रयोग सीखने की सलाह दी। विश्यना के प्रयोगों से दर्द की मुक्ति के साथ–साथ उनकी जीवन दृष्टि बदल गई। नियमिति अभ्यास एवं प्रशिक्षण प्राप्त कर साधना में विकास करते हुए उन्होंने दूसरो को सीखाने की क्षमता प्राप्त की।



अवचेतन मन में पड़े हुए जन्म–जन्मांतर के संस्कारों को दूर कर अवचेतन मन को पवित्र करने की यह पद्धति विपश्यना के नाम से जानी जाती है। इसमें किसी पंथ विशेष की बात नहीं होने से सब के लिए उपयोगी है। इस साधना प्रक्रिया के मुख्य तीन अंग है। शील, समाधि एवं प्रज्ञा।

शील अर्थात् यम–नियम। अन्य सर्वयोग मार्ग की भांति शील इस ध्यान पद्धति का मुख्य पाया (आधार) है। इस शिविर में प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम शिविर दौरान तो हिंसा, असत्य एवं चोरी के साथ–साथ अब्रह्मचर्य एवं मादक पदार्थो के सेवन का प्रत्याख्यान (त्याग) करना पड़ता है।

समाधि इस ध्यान पद्धति का दूसरा अंग है। राग–द्वेष विहीन, सजग एवं एकाग्र चित्त से वर्तमान क्षण की सच्चाई को निरंतर एवं दीर्घकाल तक देखते रहने की क्षमता को समाधि कहते है।

विपश्यना का तीसरा अंग है – प्रज्ञा। शील एवं समाधि का अभ्यास प्रज्ञा की भूमिका तैयार करते है। प्रज्ञा का अर्थ है विवेक की जागृति एवं अविद्या का नाश होना। श्वास के परिपक्व अभ्यास के बाद सिर से पैर तक चित्त को ले जाकर वहीं हो रहे संवेदनों को बिना राग–द्वेष से देखना। कर्ता–भाक्ता बने बिना अनित्य एवं समत्व भाव का अभ्यास एवं अनुभव करना।

बौद्ध दर्शन के अनुसार जब अनित्य, दुःख और अनात्म की चेतना प्रकट होती है तब विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है। विपश्यना के लिए तीन शर्ते है – अनित्य का ज्ञान, दुःख का ज्ञान और अनात्म का ज्ञान। इन तीनों का ज्ञान होने पर विपश्यना प्रगट होती है। बौद्ध दर्शन का सिद्धांत है – क्षणिकवाद। प्रतिक्षण उत्पादन और व्यय हो रहा है। यह विपश्यना का एक मूल आधार है। विपश्यना का दूसरा आधार है–दुःख का ज्ञान। जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण ये दुःख है। यह दुःख का ज्ञान विपश्यना का आधार तत्व है। विपश्यना का तीसरा मूल आधार है – अनात्म का ज्ञान। जब इस त्रिपदी का ज्ञान स्पष्ट होता है तब विपश्यना प्रगट होती है।

विपश्यना के कई प्रकार है – आनापान सती, काय विपश्यना, धर्मानुपश्यना, वेदनानुपश्यना आदि। किन्तु वर्तमान में विपश्यना का जो क्रम चल रहा है, उसमें मुख्य रूप से दो प्रयोग करवाये जाते है – अनापान सती एवं काय विपश्यना। आनापान यानि श्वासोच्छवास सति का अर्थ है स्मृति। श्वासोच्छवास के प्रति जागृति यह है आनापान सती का अर्थ। काय विपश्यना का अर्थ है – शरीर को देखना। शिविर में प्रारंभ के तीन दिन तक प्रतिदिन दश घंटा आनापान सति का अभ्यास करवाया जाता है। इस अभ्यास से चित्त अंतर्मुख एवं एकाग्र बनता है। चौथे दिन से विपश्यना का पहला पाठ पढ़ाया जाता है।

विपश्यना के निष्ठापूर्वक अभ्यास से चित्त विकार–वासनारहित शुद्ध एवं निर्मल होता है।

पूर्वाग्रहों, व्यसनों, आकर्षणों एवं बुरी आदतों से भी व्यक्ति मुक्त बन जाता है। समता, स्वस्थता एवं सामर्थ्यता का संचार होता है। प्रतिदिन के जीवन में भी व्यक्ति निर्लेप बना रहता है। सहानुभूति, मैत्री एवं सहकार की भावना जैसे गुणों का विकास होता है। विपश्यना के द्वारा चित्त निर्मल, शांत, सम एवं स्वस्थ होने से व्यक्ति स्वतः ही व्यसन मुक्त एवं तनाव मुक्त बनता है।

सन्दर्भ ग्रंथ : विश्याः एक परिचय

प्रस्तुति : समण स्थितप्रज्ञ

17. भावातीत ध्यान पद्धति

ध्यान की एक शाखा है – भावातीत ध्यान। संक्षेप में इसे टी.एम. कहा जाता है। इसके संस्कर्ता महर्षि महेश योगी है। वे अमेरिका आदि अनेक देशों में रहे है। और इसका बहुत प्रचार किया है। प्रचार के साथ एक विशेष बात यह है कि उन्होंने इस ध्यान पद्धति को वैज्ञानिक परीक्षण में लगा दिया। वैज्ञानिक परीक्षण के परिणाम भी आये। काफी साहित्य भी लिखा गया। इसके प्रशिक्षकों की संख्या काफी है। भावातीत ध्यान में एक मंत्र का प्रयोग कराया जाता है। यह बीस मिनट का प्रयोग होता है। मंत्र की एक निश्चित विधि है। उसका जप करते करते व्यक्ति भावातीत हो जाता है। भावना से अतीत होकर व्यक्ति गहरी एकाग्रता में चला जाता है। भावातीत को निविर्कल्प ध्यान भी कहा जा सकता है।



मंत्र जप केवल उच्चारण ही नहीं है, जब हम ध्यान की तरफ जप को ले जाते है तब उसे विराम देने की जरूरत होती है। हम उच्चारण से जप शुरू करें और उसे विराम देते चले जाए। जितना विराम देंगे अंतराल बढ़ता चला जाएगा। सबसे महत्वपूर्ण बात है शून्य रहना। ध्यान के हर क्षण में शून्य को पकड़ना बहुत महत्वपूर्ण है। हम जितना जप के बीच में अंतराल देना, सिखेंगे उतना ही भावातीत ध्यान सधता चला जाएगा। एक बार मंत्र जपा और पांच सैकण्ड बिलकुल निर्विकल्प रहे, यह अवस्था बढ़ती चली जाए तो जप भावातीत हो जाएगा। एक समय ऐसी स्थिति आती है कि शब्द छूट जाता है और केवल अर्थ रह जाता है, यही है भावातीत ध्यान। इस अवस्था को समाधि भी कहा जाता है। पहले शब्द और विचार का आलम्बन लिया जाता है, वह निर्विचार में बदल जाता है। शब्द और विचार छुट जाते है। केवल अर्थ की अनुभूति रह जाती है।

मंत्र में शब्द का अर्थ गौण होता है केवल शब्द की शक्ति होती है। गठन का आधार रहता है–प्रकम्पन। सारी ध्वनि चिकित्सा प्रकम्पनों के आधार पर चलती है। शब्दों का गठन, प्रकम्पन और भावना इन तीनों के योग से जप भावातीत स्थिति में चला जाता है।

सन्दर्भ : भेद में छिपा अभेद

प्रस्तुति : आचार्य महाप्रज्ञ

योग का आव्हान

मन का उठना ही नाश है,
और मन का ठहरना ही विकास है।
चलने में तनाव है,
स्वयं से अलगाव है,
ठहरने में विश्वास है,
अविरल आश्वास है,
आनंद का उच्छ्वास है।
इसलिए योग का आव्हान है कि –
चित्त को निरोध करो।
धर्म का साक्षात्कार करो।

- मुनि शुभकरण

18. भूरीबाई की दृष्टि में ध्यान

परिचय :-

पूज्य भूरी बाई का जन्म वीर प्रसिद्ध मेवाड़ की धरा सरदारगढ़ (राजसमंद) में संवत् १९४७ में कुशल कारीगर रूपाजी सुथार के यहां हुआ। बचपन से ही दयालु व धर्मप्रिय थी। तेरह वर्ष की उम्र में उनका विवाह ४३ वर्षीय चित्रकार फतहलालजी सुथार के साथ कर दिया गया। क्योंकि सुथार की पहली पत्नी चल बसी थी। उन दिनों सरदारगढ़ में देवगढ़ की एक मुसलमान योगिनी नूरीबाई का आगमन हुआ। भूरीबाई उनके सम्पर्क में आई। भूरीबाई का पति भयंकर बीमार हुए। योगिनी ने बाई की स्थिति पर उपदेश दिया कि पति की सेवा अच्छी तरह करो मगर इस बात का पूरा ख्याल रखना की तुम्हारे कोई संतान न हो जावे। उन्होंने बाई को कुछ योग साधना भी बताई। अचानक पति का स्वर्गवास हो गया। उस समय बाई की आयु २६ वर्ष की थी। फिर बाई की साधना गहन होती गई। भगवत प्राप्ति के लिए रूदन करना भी साधना का एक अंग था। इसी समय बाई को एक योगी (उदयपुर राज परिवार के महाराज साहब चतुरसिंहजी) का सम्पर्क हुआ। जो स्वयं आत्मज्ञानी थे। उनके मार्गदर्शन से सन् १९२८ के करीब बाई को भी आत्मज्ञान हुआ। फिर अनेक जिज्ञासु लोग उसके पास मार्गदर्शन लेने आते रहे। बाई ने अपने बैठक स्थान पर "चुप" लिखवा रखा था। बाई सदा प्रसन्नचित रहते थे एवं विनोदप्रिय भी थे। संवत् २०३६ को उन्होंने अपना शरीर छोड़ा।



साधना करने वाले साधकों के लिए उनका संदेश था – किसी के गुण–दोष नहीं देखने चाहिए। सब में सर्वत्र ही चैतन्य देव विराजते हैं। अपने ही व्यक्तित्व और अहं का निरीक्षण करते रहना चाहिए।

स्त्री से व्यवहार बहुत सावधानी से करना चाहिए क्योंकि स्त्री माया का मूर्तिमान स्वरूप है। मोह की मात्रा कितनी है वह ध्यानपूर्वक देखते रहना चाहिए, अपने अन्तर में दृढ़ रहना। संसार का बाहरी व्यवहार समयानुसार करते रहना किन्तु अन्तर में निरन्तर निरीक्षण करते रहना कि मैं कितना तटस्थ हो रहा हूं।

यदि अंतर में यह भाव रहें कि यह मेरा घर है, मेरा कुछ बिगड़–सुधर रहा है तो समझना चाहिए कि मेरा कोई भी सुधार नहीं हुआ है। किसी ने बाई को पूछा कि परमात्मा का साक्षात्कार कब होवेगा ? बाई ने कहा जब यह बात मन से निकल जावेगी तब। सांसारिक भावना वाले मनुष्य की संगति नहीं करनी चाहिए। जरा देखों कि अपने चित्त में चिन्तन संसार का चलता है या ईश्वर का?

अपन सुमिरण साधना करते है इस कारण से यह मन में नही लाना चाहिए कि दूसरे क्यों नही करते है। दूसरे की बात चित में लाना अहंकार है। यह हर जगह आ जाता है। सजग रहना चाहिए। ईश्वर भजन भी उनकी कृपा के बिना कहां होता है। कई विघ्न आ खड़े होते हैं। और भजन तो सहज होना चाहिए, भजन किया नहीं जाता, होता है। जिसमें प्रियता हो जाती है, उसे याद रखना नहीं पड़ता, वह याद ही रहता है। वही सच्चा स्मरण है। फिर भी स्मरण न करने वाले से जैसे भी करें, स्मरण करने वाला ही ठीक है।

पूर्ण वैराग्य के बिना इन्द्रियों को नही जीता जा सकता। वैराग्य कहां है ? जहां देखों, वहां धोखा ही धोखा मिलेगा ।

करना क्या है ? कुछ भी नहीं करना है। है जो तो सदैव है ही, पाना ही खोना है। जो सदैव प्राप्त है उसे क्या पाओगे ? यह उल्टी बात मन से निकाल दो। जैसा काम सामने आवे उसे मजदूरी समझ कर करो। न त्याग की भावना रखो और न ग्रहण की। न तो नई गृहस्थी जमाना और न गृहस्थी हो तो उसे त्यागना व साधु बनकर बैठना है। है जैसा चलने दो। इससे न तो बन्धन होता है, न छूटता है।

बाई को पूछा कि तपस्या किसको कहते है ? उतर दिया "सहन करना।" जैसे कोई क्या (उचित–अनुचित)

कह रहा है तो यह मन में न आवे कि यह समझता ही नहीं, यह मूर्ख हैं, यह ऐसा क्यों करता है, यह तपस्या है। भूखे मरना ही तपस्या नहीं है।

संसार के क्लेशों से बचने के लिए इन्द्रियों के विषय में अरूचि पैदा करनी आवश्यक है। लिखा है –

देख्या सुणिया, मांयने, जब लग रूचि अवशेष।
तब लग भव नहिं कट सके, मिट नहिं सकै क्लेश।

यानी जब तक देखे और सुने में रूचि है तब तक कठिन है कि संसार–क्लेश कट सके।

बाई ठीक कहती है –

ठेकेदार वणो मती, ठेकेदार हमेश।
चिंता में उलझयो रहे, मस्त मजूरा देख।।

ठेकेदार मत बनो। ठेकेदार को अपने प्रबन्ध, लाभ, हानि की हाय हाय लगी रहती है रात को नींद नहीं आती। मजूदर बनकर रहो। "दिन अस्त मजूर मस्त" वह सुखी की नींद सोता है।

शास्त्रों पर चोट करते हुए उन्होंने कहा –

आपां शास्त्र बणाइया, नहिं आपाने शास्त्र।
पुराणादि में प्रकट हाँ, आपां ही चिन्मात्र।।

शास्त्र अपने बनाये हुए है, अपने को शास्त्रों ने नहीं बनाया है। पुराणों आदि में आत्मा को चिन्मात्र कहा है।

भूरीबाई ने अपने बहुत सारे अनुभवों का पान जिज्ञासुओं को कराया है। सार सिर्फ इतना ही है –

करणों मात्र कांईज नहीं, मिनख जमारो पाय।
मात्र जागणो ही ज है, बाई सार बताय।

सिर्फ जानना है, करना नहीं है। शान्त होना है। मनुष्य जन्म पाकर सिर्फ स्वयं को जानना है। इतना ही मेरे कहने का सार है।

सन्दर्भ ग्रंथ : महात्मा भूरीबाई (संस्मरण)

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

इन्द्रिय-प्रत्याहार

जो है उसी को छूये,
जो है उसी को चखे,
जो है उसी को सूंघे,
जो है उसी को सुने,
जो है उसी को देखे,
और जो है उसी को सोचे,
यही है इन्द्रिय–प्रत्याहार।
शुद्ध संस्कार,
समय सार,
और यही है संयम,
सम,
अनुपम दम,
और आत्मानुभव का क्रम

- मुनि शुभकरण

19. सन्त गंगासती की दृष्टि में ध्यान

पारस का स्पर्श लोहे को सोना बना देता है। यह केवल धातु का रूपान्तरण है, जीवन का नहीं। सन्त का स्पर्श उससे अधिक गहरा होता है। वह व्यक्ति कैसा भी हो उसे अपने समान सन्त बना देता है। अंगुलिमाल, वाल्मिकी, अर्जुन आदि महामानव सन्त भगवान बन गए। गंगावती एक सन्त थी। गुरु ने उसे संतत्व प्रदान कर दिया। पानबाई उसके निकट आई। गंगासती ने उसके भीतर झांककर असलियत को पहचान लिया। वह उसी पथ पर चलने को इशारा करती हुई कहती है – 'अब तुम्हें मार्ग का बोध हो गया है, सत्य की दिशा में प्रस्थान हो चुका है। तुम्हारे भीतर श्रद्धा और विश्वास है। अभ्यास ज्ञान जागृत होने के बाद इधर–उधर भटकना नहीं।'

गंगासती जानती है कि यह मन बड़ा चंचल है। इसे स्वयं पर भरोसा–विश्वास कम होता है। दूसरों की थाली में घी अधिक दिखाई देता है। उसे लगता है यहां नहीं वहां मिलेगा। यहां नहीं, वहां है। इसी सन्देह के कारण वह अभ्यास छोड़कर अन्य अभ्यास की तलाश में चल पड़ता है। वह किये कराये पर पानी फेर देता है।

सब कुछ व्यक्ति के पास है। वह स्वयं सिद्ध, बुद्ध, ब्रह्म, भगवान है। पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। स्वयं से भिन्न अन्य कुछ नहीं है। इस सच्चाई को हृदयंगम करना है। इसलिए पानबाई को सावधान कर रही है

अभिआस जाग्यां पछी बहु भमवुं नहि रे ने ।
न रहेबुं भेदवादिनी साथे रे
कायम रहेबुं एकांतमां रे, ने माथे सद्गुरुनो हाथ रे।।

'अभ्यास ज्ञान मार्ग प्राप्ति के बाद बहुत भटकना नहीं। दृष्टि को अपने लक्ष्य पर स्थिर रखना। सांसारिक लोगों का साथ कम से कम करना। अनात्मवादियों का संसर्ग साधक को नीचे गिरा देता है। उसे अधिकांश समय एकांत में रहकर गुरुद्वारा प्रदत्त ध्येय पर चलते रहना चाहिए कि गुरु प्रतिक्षण मेरे साथ है।'

थोड़े में बहुत कुछ कह दिया। ध्यान की या परमात्मा की प्रारम्भिक साधना करने वाले साधकों के लिए यह अमूल्य कथन है। एक बार साधना का मार्ग मिल जाएं फिर धैर्य के साथ उसका अभ्यास करते रहना चाहिए। दृष्टि सिर्फ लक्ष्य पर स्थिर रहे। इधर–उधर की बातों में चित्त का लगाव साधना में बाधक है।

प्रारम्भिक साधकों को चाहिए कि वे जन–सम्पर्क से बचने का प्रयास करें, उसमें दिलचस्पी न दिखाए। साधकों के लिए एकान्तवास बहुत सहयोगी है। बाहर का एकान्त भी भीतर के एकान्त में निमित्त बनता है। बाहर की भीड़ साधक के चित्त को विचलित कर सकती है। अन्तर्मुखी बनने की प्यास को यदि तृप्ति देनी है तो एकान्त की उपासना करें। सद्गुरु के द्वारा जो मार्ग मिला है, उस पर पूरी निष्ठा के साथ चलते रहना चाहिए। सन्देह साधना में जहर का काम करता है। निष्ठा ही साधना को स्थिरता प्रदान करती है। गंगासती का यह उपदेश सिर्फ पानबाई के लिए ही नहीं है। उसके माध्यम से हम सबके लिए यही एक मात्र पथदर्शन है। मंजिल तक पहुंचना है तो रास्तों के इन अवरोध के प्रति सावधान होकर आगे बढ़ने का संकल्प करना होगा। ऐसा संकल्प साधना को सिद्धि के द्वार तक अवश्य पहुंचाएगा।

प्रस्तुति : मुनि शुभकरण

20. स्वामी रामतीर्थ की दृष्टि में ध्यान

जन्म : वि. सं. १६३० **देहत्याग- वि.सं. १६६३**

मनुष्य जन्म की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए स्वामी रामतीर्थ कहते है "चाहे हजारों, लाखों कृष्ण, क्राईस्ट जगत में आये और जाए पर बिना अपने आप प्रयत्न किए तुम्हें कभी आत्मज्ञान नहीं हो सकता और बिना आत्म ज्ञान प्राप्त किए मनुष्य का जन्म सफल नहीं हो सकता। वे कहते है " एक बार आत्म तत्व की खोज कर लो और उस पर निर्भर रहो, फिर तुम्हीं देश और समय के स्वामी हो।"

आत्म साधना के लिए वे भोजन की सात्विकता को स्वीकार करते हुए कहते है– "अल्प तथा सात्विक भोजन से चित्त बहुत प्रसन्न रहता है। गरम और देरी से पचने वाले पदार्थो से प्रकृति हमेशा खराब रहती है। वे बहुत स्पष्ट शब्दों में कहते है कि "बिना हृदय के रंगे केवल वस्त्रों के रंगने से न अपना भला होगा न दूसरों का।" वे सबसे पहले आत्मा के उद्धार पर बल देते है। उन्होंने कहा है कि "परोपकार करने की इच्छा हो तो पहले अपने आप का उद्धार करो। जिसने आत्मसेवा नहीं की, वह देश और समाज की सेवा के योग्य नहीं है। आत्म–साधना करने वाले साधक को कहा कि चाहे आप प्रार्थना मत करो किन्तु दूसरों की आलोचना व निन्दा कभी मत करो। सुख की खोज में भटकने वाले मानव को वे कहते है – तुम्हारा सुख तुम्हारी अपनी आत्मा में ही है, इसलिए उसकी खोज बाहर नहीं, भीतर में करो।



स्वामी रामतीर्थ की दृष्टि में सच्चा साधु वह है जिसके अन्तर में ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो उठी है, जिसके द्वारा देहाभिमान और साधु होने का अहंकार और सांसारिक वस्तुओं के प्रति होने वाला राग–द्वेष नष्ट हो गया है।

स्वामी रामतीर्थ अपने आप को किसी पंथ और सम्प्रदाय के नहीं मानते थे। न ही वे किसी भी विचार के प्रचारक थे। वे कहते थे कि किसी धर्म के पैगम्बर या संस्थापक होने से मेरा मूल्य घटता है।

इस प्रकार स्वामी रामतीर्थ बहुत बड़े आत्मपुरूष थे और वे सदैव साधना और अध्यात्मिक जागरण का ही महत्व देते थे। उनका संदेश हमारा जीवन बने तो शायद हम भी उस दिशा में कुछ कदम आगे बढ़ सकते है।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

लक्ष्य निर्माण

मन को किसी एक बिन्दु पर बांधना – धारणा है।
जीवन की सारणा–वारणा है।
दुःख की विदारणा है।
बांधा हुआ मन शक्तिशाली होता है।
बांधा हुआ जल उपयोगी होता है।
बांधा हुआ आकाश उपयोगी होता है।
मन को शुभ ध्येय पर बांधो,
शुद्ध लक्ष्य को साधो,
आत्मा को आराधो !

- मुनि शुभकरण

21. भगवान रजनीश की दृष्टि में ध्यान

अक्रिया का नाम ध्यान है। जब तुम कुछ भी नहीं कर रहे हो – न शरीर से, न मन से, जब समस्त क्रियाएं शून्य हैं और तुम बस हो – स्व मात्र, यह है ध्यान। सोचना भी क्रिया है, एकाग्रता भी क्रिया है और मनन भी क्रिया है। यदि एक क्षण के लिए भी तुम अक्रिया, विश्राम में हो तो वही ध्यान है। एक बार तुम्हें अंतस के अंकपित रहने का बोध मिल जाएं, फिर तुम धीरे–धीरे कर्म करते हुए भी यह होश रख सकते हो। ध्यान कर्म से विपरीत नहीं है। ऐसा नही है कि तुम्हे जीवन को छोड़कर भाग जाना है। यह तो तुम्हें एक नये ढंग से जीवन को जीने की शिक्षा देता है। तुम कर्म के कर्ता नहीं, द्रष्टा होते हो। यह ध्यान का पूरा रहस्य है। ध्यान का अर्थ है– साक्षी। साक्षी यानी होश पूर्वक जीने की कला।



होश के लिए पहला चरण है अपने शरीर के प्रति पूर्ण होश रखना, फिर अपने विचारों के प्रति होशपूर्ण होना शुरू करो। तीसरे तल पर तुम अपनी अनभूतियों और भावदशाओं के प्रति होशपूर्ण होना। चौथा चरण है – होश के प्रति जाग्रत रहना।

ध्यान कुछ और नही, बस एक उपाय है तुम्हें अपने सच्चे स्वरुप के प्रति सजग करने का। स्वरूप तुम्हारा निर्माण नहीं है, तुम वह हो ही। उसके साथ ही तुम जन्में हो। बस उसका आविष्कार करना है।

ध्यान की विधयां सहयोगी हो सकती है लेकिन वे वास्तव में ध्यान नहीं हैं। वे तो अंधकार में टटोलने के समान हैं। किसी दिन अचानक, कुछ करते हुए एक दिन अचानक ध्यान के बीच तुम द्रष्टा रह जाओंगे। उस दिन ध्यान घटा फिर विधि न बाधा रही, न सहायक रही। ध्यान है साक्षित्व। ध्यान करने का अर्थ है साक्षी हो जाना। ध्यान बिलकुल भी कोई विधि नहीं है, ध्यान एक समझ है, होश है। लेकिन तुम्हें विधियों की जरूरत है क्योंकि परम समझ तुमसे बहुत दूर है। हांलाकि हे तुम्हारे ही भीतर, फिर भी तुमसे दूर है। क्योंकि तुम्हारा मन चलायमान है। इसलिए विधियों की जरूरत है। मन बिना प्रयास के रह नहीं सकता, इसलिए विधियां है। ये सब ध्यान विधियां तुम्हें एक प्रयास रहित अवस्था में ले जाने के लिए हैं। कुछ विधियां इस प्रकार है –

सक्रिय ध्यान :- आदमी का मन विक्षिप्त है। यदि उस विक्षिप्तता को मिटाना है तो तुम्हें सक्रिय होना होगा। सक्रिय ध्यान से तुम्हारी विक्षिप्तता का रेचन होता है। इसी अवस्था में तुम्हारे भीतर एक शान्त केन्द्र का तुम्हें अनुभव होगा। सक्रिय ध्यान विधि से दमित संस्कारों का रेचना होगा। सक्रिय ध्यान विधि के तीन चरण है–

(१) गहरी, प्रबल सप्राण श्वास–प्रश्वास :– यह तेज श्वास तुम्हारे भीतर की दमन की व्यवस्था में उथल–पुतल पैदा करने के लिए है।

(२) रेचन – जो तुम्हारे मन में आता हो उन्हें अभिव्यक्ति होने दो। इससे तुम निभार हो जाओगे। हूँ का उच्चार से कामकेन्द्र की ऊर्जा का सहस्रार की और उर्ध्वगमन होता है। ये तीन चरण रेचनकारी है। ध्यान की तैयारी के लिए अनिवार्य है। (४) चौथा चरण– स्वयं को स्थिर करने के लिए रूक जाना है। पूरी स्थिरता बनी रहनी चाहिए। यह देहरहित होने की विधि है। यह चौथा चरण स्वयं में जागरूकता एवं साक्षीभाव को प्रकट करने के लिए है। यह ध्यान है। प्रत्येक प्रवृत्ति के प्रति चेतना का साक्षीभाव रहें।

(२) **कुंडलिनी ध्यान :-** यह सक्रिय ध्यान का अति प्रिय सहयोगी ध्यान है। इसमें पन्द्रह–पन्द्रह मिनट के चार चरण है। प्रथम चरण शरीर को ढीला छोड़ दें और पूरे शरीर को कंपने हैं। दूसरा चरण शरीर को मनोनुकूल गति करने है। तीसरा चरण – जो कुछ हो रहा है, उसके साक्षी बने रहें। चौथा चरण – लेट जाएं, शरीर, मन को निश्चल होने दें।

इसके अतिरिक्त – मिस्टिक रोज ध्यान नो–माइंड मेडिटेशन, नटराज, ध्यान, विहरलिंग ध्यान आदि।

22. उपनिषद में ध्यान

जो केवल भौतिक विधाएं पढ़ते थे, उपनिषद के ऋषि उनसे कहते– तुम आत्मा को नही जानते तो कुछ भी नहीं जानते। पराविद्या को जाने बिना तुम्हारा कोई समाधान होने वाला नहीं हैं। उपनिषद कहता हैं – सारी सता चैतन्य की है। चैतन्य ही सब कुछ है। उपनिषद उद्घोष है सनातन सत्य के, जिनमें ऋषियों के माध्यम से सत्य प्रकट हुआ है। उपनिषद मूलतः किसी धर्म विशेष की शिक्षा नहीं देते – उपनिषद शुद्धतम आध्यात्मिकता है। उपनिषद की देशना है कि विवेक को उपलब्ध व्यक्ति के लिए करूणा उसकी केलि है। वह अपने आनंद में है और करूणा उसके आनंद की सुवास है।

ॐ मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो, स्वयं प्रकाश आत्मा ! मेरे सम्मुख तुम प्रकट होओ। है वाणी और मन ! तुम दोनों मेरे वेद–ज्ञान के आधार हो, इसलिए मेरे वेदाभ्यास का नाश न करो। इस वेदाभ्यास में ही मैं रात दिन व्यतीत करता हूं।

इस सत्र का भाव इतना ही हैं जिस व्यक्ति को परम सत्य की खोज में जाना हो, उसको अपनी सारी इन्द्रियां, अपना मन अपना शरीर सबके साथ प्रार्थना करके सहयोग निर्मित कर लेना चाहिए। वह सहयोग निर्मित हो जाएं तो वे सब साथी संग हो जाते है। उनका (मुक्तात्मा) सिद्वान्त आकाश के समान निर्लेप होता है। अमृत तंरगों से युक्त आत्मारूप उनकी नदी होती है, अक्षय और निर्लेप उनका स्वरूप होता है। जो संशय शून्य है वह ऋषि है। निर्वाण ही उनका इष्ट है। वे सर्व उपाधियों से मुक्त हैं। वहां मात्र ज्ञान ही शेष है। उर्ध्वगमन ही जिनका पथ है।

शलंब पीठः – आश्रय रहित उनका आसन है।

संयोग दीक्षा :– परमात्मा के साथ संयोग ही उनकी दीक्षा है।

वियोगोपदेश :– संसार से छूटना ही उपदेश है।

दीक्षा संतोषपावनम् च – दीक्षा संतोष है और पावन भी। द्वादश आदित्यावलोकनम् – बारह सूर्यो का वे दर्शन करते है। धैर्य उनकी गुदड़ी है। उदासीन वृत्ति लंगोटी है। विचार दंड है। ब्रह्मदर्शन योग–पद है। संपति उनक़ी पादुका है। परमात्मा की अभीत्सा ही उनका आचरण है। कुंडलिनी उनकी बंध है। जो दूसरे की निंदा से रहित है, वह जीवन–मुक्त है।

शून्य संकेत नहीं है परमेश्वर की सता है। सच्चा और सिद्ध हुआ योग (संन्यासी का) मठ है। उस आत्म स्वरूप के बिना अमरपद नहीं हैं। आदि ब्रह्म स्व चेतन है। अजपा गायत्री है। विकार – मुक्ति ध्येय है। मन का निरोध ही उनकी कन्था है।

योग द्वारा वे सदैव आंनद स्वरूप का दर्शन करते है। आनंद रूप भिक्षा का भोजन करते हैं। महाश्मशान में भी आनंददायक वन के समान निवास करते हैं। एकांत ही उनका मठ है। प्रकाश अवस्था के लिए वे नित–नूतन चेष्टा करते हैं। अमन में ही वे गति करते है। उनका शरीर निर्मल है, निरालम्ब आसन है। जैसे निनाद करती अमृत सरिता बहती है, ऐसी उनकी क्रिया है। भय, मोह, शोक, और क्रोध का छोड़ना ही उनका त्याग है। ब्रह्मचर्य और शांति जिनकी सम्पति या संग्रह है।

कैवल्य उपनिषद में कहा है – परम तत्व को प्राप्त करने के लिए श्रद्वा, भक्ति, ध्यान और योग का आश्रय लेना पड़ता है। उस परम तत्व को धन, संतान अथवा कर्म के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। त्याग ही एक ऐसा मार्ग है, जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञानियों ने अमृत्व को प्राप्त किया हैं। स्वर्गलोक से उपर हृदय की गुफा ब्रह्म की गुफा ब्रह्म लोक में स्थित वह परमतत्व आलोकित है, जिसे निष्ठावान साधक ही प्राप्त कर सकते हैं।

ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा वाले संन्यास आश्रम में स्थित स्नानादि से अपने शरीर को शुद्ध करके एकांत स्थान में अपना आसन लगाकर सिर, गले व शरीर को एक सीध में रखकर समस्त इन्द्रियों को एकाग्र करके, श्रद्धा व भक्ति से अपने गुरू को प्रणाम करके, अपने हृदय कमल से दोषों को निकाल कर दुख व शोक से परे उस विशुद्ध भक्ति तत्व का सम्यक् चिंतन करते हैं।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

23. संत तुलसीदास की दृष्टि में ध्यान

रामभक्त गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म वि.सं. 1554 में उत्तरप्रदेश में हुआ था। माता हुलसी ने शुभ नक्षत्र में तुलसी को जन्म दिया। कहा जाता है 'पुण्यवान के पैर पालने में ही दिखाई दिये जाते है।' कहावत भी प्रसिद्ध है कि "होनहार विरवान के होत चिकने पात"। जब बालक तुलसी का जन्म हुआ तब वे रोये नहीं। वैसे प्रायः जन्म के समय बच्चा रोता है। पर बालक तुलसी रोए नहीं, चुप रहे। इस अद्‌भुत बालक की दूसरी विशेषता थी कि जन्म के समय मुख में पूरे 32 दांत थे तथा जो शरीर 5 वर्ष जैसे बच्चे का बलिष्ट होता है वैसा उनका शरीर जन्म के समय था।

बालक तुलसी की स्मृति एवं मेधा–शक्ति बहुत विलक्षण थी। 13 वर्ष की उम्र में उनके गुरू नरहरिजी ने उन्हें जब प्रथम बार रामचरित्र सुनाया तो तुलसी ने तुरन्त सम्पूर्ण रामचरित्र एक बार में सुनकर पुनः सुना दिया। अपनी पत्नी रत्नावली से प्रेरित होकर वे संसार से विरक्त हुए एवं उन्होंने विश्वप्रसिद्ध 'रामचरित्र मानस' ग्रन्थ की रचनाकर अपना नाम अमर किया। तुलसीदासजी द्वारा रचित हनुमान चालीसा एवं दोहे, चौपाई आज भी जन--जन के लिए आस्था का विषय बना हुआ है।



संत तुलसीदासजी ने ध्यान के संदर्भ में श्वास को बहुत महत्व दिया। उन्हीं के शब्दों में "तुलसी विलम्ब न कीजिए, भज लीजै रघुवीर।" तन तरकस से जात है, सांस सरीखो तार।" तुलसीदासजी कहते है रघुवीर अर्थात् भगवान के भजन में देरी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि सांस के धागे से यह जिन्दगी का हार बना हुआ है, कब टूट जाए पता नहीं।

सांस का उपयोग कैसे करना चाहिए इसी सन्दर्भ में तुलसीदासजी कहते हैं :–

"कहता हूं कह जात हूं, कहूं बजाऊं ढ़ोल।
सांसा खाली जात है, तीन लोक को मोल।।
सांस-सांस संभाल ले, कबहुं मिली है आय।
सुमिरन रस्ता सहज का, सद्‌गुरू दिया बताय।।

मुख स्युं भजे सो मानवी, सांसा भजे सो साध। अर्थात प्रत्येक आनेवाली और जानेवाली श्वास जब स्मरण भजन का रूप ले लेती है तब उसका स्मरण भी सहज हो जाता है। तुलसीदासजी कहते है जो केवल मुख से भजन करता है वह मानव है पर जो सांस से भजे वह तो साधु है। उन्होने रामचरित मानस में लिखा है कि सांस सांस में हरी भजो, व्यर्थ सांस मत खोय। अर्थात इस श्वास का कोई भरोसा नहीं है, पता नहीं यह कब बन्द हो जाए, इसलिए हरदम श्वास का ध्यान करते रहना चाहिए अर्थात हर सांस सांस से प्रभु का स्मरण करना चाहिए, अजपाजप चलता रहें।

राग और द्वोष मनुष्य की दृष्टि को भ्रांत करते है। वह अयथार्थ में यथार्थ की कल्पना करने लग जाता है। दुःख को भी सुख मानने लग जाता है। राग द्वोष से उत्पन्न होने वाला सुख सुख नहीं, दुःख ही है। इसलिए संत तुलसीदासजी ने कहा है– "तुलसी ममता राम सो, समता सब संसार।" राग न दोष न रोष न दुःख दास भये सब पार।।"

अर्थात मेरापन रखना हो तो राम में रखो। राम मेरा है, आत्मा मेरा है। आत्म राम के अतिरिक्त मेरा कोई नहीं है। संत तुलसीदास जी कहते है कि जिसने इतना छोटा सा भी चिन्तन कर लिया वह जगत् से पार हो जायेगा। दुःख से मुक्त हो जाएगा।

तुलसीदास ने कहा है –

बिना सत्संग विवेक न होई।
रामकृपा बिनु सुलभ न सोई।।
निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।
जिन्हके कपट दम्भ नहिं माया।
तिनके ह्रदय बसहुं रधु राया।।

विवेक का जागरण सत्संग के बिना नहीं होता। सत्संग परम तत्व की कृपा के बिना सुलभ नहीं है। जिसका मन नृिर्मल है वे ही मुझे पा सकते है। मुझे कपट, छल,

छिद्र, वाले लोग पसंद नहीं है। जिनके ह्रदय में कपट दम्भ माया नहीं है, उनके ह्रदय में परम तत्व निवास करता है।

कर्मफल के संदर्भ में समभाव का जीवन जीने की प्रेरणाा देते हुए तुलसीदास जी कहते है –

"कर्मप्रधान विश्व करी राखा, जो जस कर ही सो तस फल चाखा।।"– अर्थात कर्मफल के भोग से दुनिया को कोई शक्ति या भगवान भी नहीं बचा सकता। किसी न किसी रूप में उसे भोगना ही होता है। यदि आपके पास सम्यक समझ है, तो आप उस समय उसका उपयोग कर लाभ उठा सकते हो। वह समझ है– धैर्यपूर्वक, समाधान–पूर्वक कर्म को भोगना। हाय हाय नहीं, हरि हरि करना। आत्मलीन बनने के लिए तुलसीदास जी कहते है –

"कर्म वचन मन छांड़ी, छल, जब लग जन न तुम्हार।
तब लग सुख सपनेहु नहीं, किये कोटि उपचार।।"

– असली सुख व्यक्ति को आत्मलीन बनने से मिलता है। जब तक मनुष्य निष्कपट नहीं होता तब तक उसे सपने में भी सुख नहीं मिलता।

प्रस्तुति - समण सिद्धप्रज्ञ

विष को अमृत बनाने की कला

विज्ञान खारे जल को मधुर बना रहा है।

योग विष को अमृत बना रहा है।

विष है वासना।

निर्विष है स्व–साधना।

विश्व है विष से ग्रस्त,

सतत–संत्रस्त,

ध्वस्त।

साधना खोलती है अमृत का द्वार।

जीवन का परम उपहार।

विमल विहार।

अचल आकार।

- **मुनि शुभकरण**

24. स्वामी विवेकानंद की दृष्टि में ध्यान

जन्म : १८६३ निर्वाण : १६०२

स्वामी विवेकानंद द्वारा समय-समय पर पर दिए गए भाषण, प्रवचनों को संग्रहीत करके १० खंडों में प्रकाशित किया गया है। स्वामीजी का संदेश न केवल अध्यात्म की धरोहर है अपितु देशभक्ति, चरित्र और व्यक्तित्व के निर्माण के लिए भी प्रेरित करता है। खण्ड २ में विदेशों में दिए गए भाषणों का प्रकाशन किया गया है। उसी में से उनके द्वारा दिए गए भाषणों में व्यक्त विचारों को अंश रूप में, लेख रूप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

आत्मा : अगर यह सत्य है कि इस छोटी सी अवधि में हम अपने भविष्य का निर्माण करते हैं और अगर यह सत्य है कि हर कार्य के लिए कारण अपेक्षित है, तो यह भी सत्य है कि हमारा वर्तमान हमारे संपूर्ण अतीत के परिणाम स्वरूप है, इसलिए यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के भाग्य निर्माण के लिए मनुष्य उत्तरदायी है और कोई नहीं। यहां जो कुछ भी अशुभ दिखता है, उसके कारण भी तो हम ही हैं।



हम लोग ही सारे पापों की जड़ हैं और जिस तरह हम यह देखते हैं कि पापों का परिणाम दुखप्रद होता है, उसी प्रकार यह भी अनुमान किया जा सकता है कि आज जितने कष्ट देखने को मिलते हैं, उन सबके मूल में वे पाप हैं, जिन्हें मनुष्य ने अतीत में किया है, इसलिए सिद्धांत के अनुसार मनुष्य ही उत्तरदायी है, ईश्वर पर दोष नहीं लगाया जा सकता। वह जो चिरंतन परम दया पिता है, कैसे दोषी माना जा सकता है। हम जो बोते हैं, वहीं काटते हैं। सत्य को जान लो और क्षण भर में तुम मुक्त हो जाओ, सारा अज्ञान भाग जाएगा।

आत्मा, ईश्वर और धर्म : वे धन्य है जिनका हृदय पवित्र है क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे। क्या हम ईश्वर को देख सकते हैं ? निःसंदेह नहीं। अगर ईश्वर को जाना जा सकता है तो वह ईश्वर नहीं रह जाएगा, क्योंकि किसी भी वस्तु का ज्ञान होना, उसके सीमित होने को सिद्ध करता है। वस्तुतः विकास की जो भिन्न–भिन्न अवस्थाएं हैं, वे पवित्रता एवं पूर्णता की प्राप्ति के लिए परमावश्यक हैं। मूलतः तो सभी धर्म एक ही धारणा पर आधारित है। कोई आदमी बड़ा से बड़ा दार्शनिक होकर भी धर्म के क्षेत्र में निरा बच्चा हो सकता है।

जब मुनष्य आध्यात्मिकता की काफी ऊंचाई प्राप्त कर लेता है, तभी वह समझ सकता है कि वस्तुतः स्वर्ग का राज्य उसके अंदर है, वहीं मन का सच्चा साम्राज्य हैं। हमें इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि ग्रंथ कभी भी धर्म को नहीं गढ़ते। धर्म ही ग्रंथों को गढ़ते हैं। कभी भी ग्रंथ ने ईश्वर की सृष्टि नहीं की, परन्तु हर महान ग्रंथ की सृष्टि की मूलभूत प्रेरणा अवश्य ही ईश्वर है। अपने आप में ईश्वर का दर्शन एक ऐसी चीज है जो पुस्तकों से परे है, मत मतांतरों से परे है तथा संसार की विडम्बनाओं से परे है। कोई आदमी संसार के सारे सम्प्रदायों में विश्वास करता हो, समस्त धर्मग्रंथों का ज्ञान वहन करता हो अथवा संसार की समस्त पवित्र नदियों में स्नान कर पुण्य कमा चुका हो, पर यदि उसे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ है तो मैं उसे परले सिरे तक नास्तिक मानूंगा। अगर तुम्हारे कमरे में अधेरा है,तो तुम छाती पीट पीटकर यह तो नहीं चिल्लाते कि हाय अधेरा है, अंधेरा है। अगर तुम उजाला चाहते हो तो एक ही रास्ता है, तुम दिया जलाओ और अंधेरा अपने आप ही खत्म हो जाएगा। तुम्हारे अंदर जो प्रकाश है उसे पाने का एक साधन है तुम अपने भीतर का आध्यात्मिक दीप प्रदीप जलाओ। तुम अपनी आत्मा के उदात्त रूप का चिंतन करो, गर्हित रूप का नहीं। मुझे विश्वास है कि ईश्वर उस व्यक्ति को क्षमा कर सकता है जो अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है और आस्था नहीं रखता, किन्तु वह उसे नहीं क्षमा करेगा जो उसकी दी हुई शक्ति का उपयोग किए बिना ही विश्वास कर लेता है इस तरह वेदांत का कहना है कि धर्म की अनुभूति तो वही हो सकती है और तुम्हारे धार्मिक होने का अर्थ है कि तुम किसी धर्म की शरण में गए बिना ही आरंभ करो और अपनी साधना से धर्म की अनुभूति करो। जब तुम ऐसा कर सकोगे, तभी तुम्हारा कोई धर्म होगा।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

25. मुनि शुभकरणजी की दृष्टि में ध्यान

✦ स. परिचय

ध्यान योगी मुनि श्री शुभकरणजी ध्यान योग के सफल प्रयोक्ता हैं। आपका जन्म राजस्थान के सरदारशहर में वि.सं. १६८५ पोष वदी १० (पार्श्वनाथ जन्म दिवस) को स्वाति नक्षत्र में मातुश्री अमरीबाई की कुक्षी से हुआ। आपके पिता श्री बालचन्दजी बोथरा एक अच्छे धर्मनिष्ठ एवं प्रामाणिक व्यवसायी थे। पन्द्रह वर्ष की छोटी अवस्था में आपने आचार्य श्री तुलसी से दीक्षा स्वीकार की। सन् १६७१ में हेदराबाद में आपने ध्यान योग की गहन साधना प्रारंभ की। सन् १६७३ में आप श्री ने उज्जैन में मौन साधना का क्रम प्रारंभ किया था। आपने विभिन्न राज्यों में पदयात्राएं करते हुए अपने व्यक्तित्व एवं साधना से जन कल्याण कार्य करते हुए अन्तर यात्रा का क्रम चालू रखा। आपकी आत्म साधना के प्रति निष्ठा को देखकर गणाधिपति श्री तुलसी एवं आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने संबोधि उपवन में चातुर्मासों के निर्देश दिए। यह आप का ५वां चातुर्मास है। इसके पूर्व आपने ६ वर्षों तक तुलसी साधना शिखर राजसमन्द में मौन ध्यान योग के विशिष्ट प्रयोग किए। आपके साथ मुनि विनोदकुमारजी काफी वर्षों तक रहे जिनका गत २ वर्ष पूर्व १६६६ में समाधि मरण हो गया। मुनि शुभकरणजी ने विभिन्न धर्म दर्शनों एवं योग साधना का गहन अध्ययन भी किया है। आप स्वभाव से सरल एवं व्यवहार से कोमल हैं। आपने ध्यान योग से संबंधित अनकों पुस्तकों की रचना भी की है।



ध्यान का अर्थ :-

ध्यान का अर्थ है – चित्त को बाह्य प्रक्षेपणों से अलग कर आत्मा के साथ जोड़ना। चित्त का योग आत्मा के साथ होने पर स्वतः ही विक्षेपों, आवेगों से मुक्ति मिल जाती है। अतः प्रत्येक व्यक्ति में ध्यान की जिज्ञासा का जन्म होना आवश्यक है।

साधना का मूल है ध्यान। ध्यान के बिना योग का कोई अर्थ नहीं रहता। योग के आठ अंगों में ध्यान सातवां अंग और साधना का अंतरंग साधन है। भगवान महावीर ने भी तपोयोग के बारह प्रकारों में ध्यान को ग्यारहवां तप कहा है। ध्यान के द्वारा ही साधक स्वात्मानुभूति करता है। ध्यान सत्य का विराट और सुन्दर प्रासाद निर्मित करता है। ध्यान मिथ्या धारणाओं के शिखरों को क्षण भर में धराशायी कर देता है। आत्मा के प्रत्यक्षीकरण में ध्यान की अनन्यता को कोई धर्म अस्वीकार नहीं कर सकता। ध्यान आत्मा के साक्षात्कार का साधन है।

ध्यान क्या है ?

आत्मोपलब्धि के अनेक उपाय हैं। उन सब उपायों में ध्यान से बड़ा कोई उपाय नहीं है। ध्यान शुद्ध चैतन्य की अनुभूति है। ध्यान के दो प्रकार है– सांसारिक एवं आध यात्मिक/सांसारिक ध्यान संसार परक है और आध्यात्मिक ध्यान मुक्ति परक है। संसार से मुक्ति की दिशा में चलना ही साधक का ध्येय है।

ध्यान के दो कार्य है – मन को एकाग्र करना और चित्त का निरोध करना। एकाग्र मन ही चित्त निरोध की भूमिका बनाता है, क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ मन नहीं। दस दस हाथ के पांच गड्ढ़े खोदने पर पानी कैसे आएगा ? यदि पचास हाथ का एक गड्ढा खोदा जाए तो पानी आ सकता है। विक्षिप्त मन एक जगह गड्ढा नहीं खोदता। मूढ़ मन में भी यह क्षमता नहीं है, वह बोध रहित होता है, पागल जैसा होता है। बाह्य विषयों में आसक्त बना रहता है। एकाग्र मन की साधना करने योग्य है।

एक सन्त से किसी ने जिज्ञासा की ध्यान क्या है? उसने कहा – जो सबसे निकट है, उसमें होना ही ध्यान है। स्वयं में होना ही ध्यान है। ध्यान आत्मा तक पहुंचने की सर्वोतम एवं सहज प्रक्रिया है।

ध्यान क्यों ?

चित्त की पवित्रता के बिना कोई भी साधना सफल नहीं हो सकती। प्रत्येक साधक को साधना की फल प्राप्ति से पूर्व अपने आपसे पूछना चाहिए कि उसने उसका चित्त पवित्र है या नहीं ? इसका उत्तर अपने आप मिल जाएगा। चित्त की निर्मलता के लिए ध्यान आवश्यक है।

चित्त शुद्धि का पात्र वह व्यक्ति होता है जो सत्य–संधित्सु हो, संसार उद्विग्न हो, पाप भीरू हो, स्वभाव अभिप्सु हो, आत्म दिधिक्षु हो, धर्म के प्रति अटल निष्ठावान हो, सहजता में आस्था हो।

ध्यान क्यों ? इसका उत्तर मनुष्य के अतीत के संस्कार या पूर्व अर्जित कर्म के आधार पर दिया जा सकता है। आत्मा के साथ मोह का बन्धन जुड़ा हुआ है। उस मोह के बन्धन को तोड़ने के लिए ही ध्यान करना है। आत्म साक्षात्कार एवं स्वदर्शन करना ध्यान का मूल है।

ध्यान किसका ? :-

ध्याता, ध्येय और ध्यान की परिकल्पना इसी प्रश्न की देन है। ध्याता का अर्थ है ध्यान करने वाला। ध्येय – जिसका ध्यान किया जाय। ध्यान – उसी विषय पर चित्त को एकाग्र करना। ध्यान दो प्रकार का है – सालम्बन एवं निरालम्बन। सालम्बन ध्यान निरालम्बन में जाने की पूर्व भूमिका है। ध्याता के सामने यदि लक्ष्य स्पष्ट हो तो वह सालम्बन से निरालम्बन की ओर स्वतः ही बढ़ता चला जाता है। पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ ध्यान सालम्बन ध्यान के ही प्रकार है।

ध्यान की निष्पति :-

ध्यान अज्ञान को दूर करता है। मोह का विलय करता है। यथार्थ तत्व की प्रतीति कराता है। ध्याता, ध्येय एवं ध्यान तीनों योग की चरम सीमा में एक हो जाते है। तीनों का अभेद ही आत्म–साक्षात्कार का हेतु है।

आत्मा और परमात्मा में दूरी केवल आवरण की है। अनावृत्त चेतना परमात्मा है। अपने अस्तित्व के प्रति समर्पित होने पर ही चेतना का अनावरण होता है। इष्ट की शक्ति उसमें उतरने लगती है। उसके हाव–भाव, रहन–सहन, भाषण आदि क्रियाओं में इष्ट की प्रतिकृति झलकने लगती है।

सन्दर्भ : अथ ध्यान जिज्ञासा

प्रस्तुति : समण सिद्धप्रज्ञ

योग

योग का मूल है – दर्शन – शुद्धि।
दर्शन–शुद्धि से होती है ज्ञान–शुद्धि।
और ज्ञान–शुद्धि से होती है चरित्र–शुद्धि।
इस त्रिवेणी में साधक ही –
होता है स्फटिक – सा निर्मल।
अविकल, अविचल और निश्छल
संसार का पारगामी,
नहीं किसी का अनुगामी,
अबहुयामी,
अन्तर्यामी !

26. संत तुकाराम की दृष्टि में ध्यान-

संत तुकाराम महाराष्ट्र के महान संत थे। उनकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं था। उन्होंने धन संपति को भगवद् भक्ति के मार्ग की बाधा कहा तो उससे पहले उनके पास जो कुछ जमा पुंजी थी, उसका विसर्जन कर दिया। उन्होंने अपना आध्यात्मिक परिचय और अपनी आत्म स्थिति स्वयं प्रकट की है। वे कहते थे–

मैं क्षुद्र वंश में पैदा हुआ, इसीलिए मुझ में दंभ नहीं रहा। हे भगवान, तू ही अब मेरा मां–बाप है। अच्छा हुआ हे भगवान, तु ने मुझे किसान बनाया, वरना मैं घमंड से भर गया होता। अगर मुझ में कोई विद्या होती तो बड़े झंझट में फंस जाता। तब मैं संतों की सेवा नही करता और मुफ्त में मर जाता।



परमार्थ विरोधी वचन मुझसे सहन नहीं होते। उन्हें सुनकर मेरा मन बड़ा दुःखी होता है। इसलिए मुझे किसी की संगति सहन नहीं होती। एकान्तवास ही प्रिय लगता है। देह की भावना और वासना का संग मुझे पसंद नहीं आता। आशा–मोह के जाल में पड़ने से दुःख बढ़ता है। और इष्ट आराधना में अंतर पड़ जाता है। मैं मान और दंभ को थूक कर कर किर्तन करता हूं। अर्थ को अनर्थ सरीखा मान कर दूर रख दिया है। मैं सब उपाधियों से अलग रहकर पवित्र हुआ हूं। मैं हाथ में विवेक की लाठी लेकर देह के पीछे लग गया। जिस तरह श्मशान में मुर्दे फुंकते है, उसी तरह मैंने उसे अपने ब्रह्म तेज से जला डाला।

मैं जो कुछ बोलता हूं, दूसरों के समाधान के लिए बोलता हूं, लेकिन मेरा चित्त कहीं भी गुंथा हुआ नहीं है। जिनके चित्त में भगवद्–प्रेम है, वे मुझे प्राणों से अधिक प्रिय है, देव और संत ही मेरे हित को जानते है, इसलिए दूसरों के बोलने की और मैं ध्यान नहीं देता। मैं किसी के अवगुण नहीं देखता। न किसी को पापी, पवित्र या विद्वान गिनता हूं। सब तेरे ही रूप है इसलिए सबका भाव सहित वंदन करूंगा। और सेवा करूंगा। मुझे केवल भक्ति की अभिलाषा है। तेरी खातिर में विष को अमृत मान कर पीऊंगा। जिनका चित्त शुद्ध है, वे मुझे अत्यंत प्रिय है। जिनकी वृत्तियां स्थिर हो गयी हो, उनको मैं अपना मित्र मानता हूं। चित–वृत्ति को एकाग्र करके मैं हर ग्रास और हर घूंट पर देव का स्मरण करता हुआ खाता–पीता हूं। मैं चित को जागृत रखता हूं। द्वेत–भावना के घुस आने की मुझे बड़ी आशंका रहती है। जो निष्काम चित्त से राम भजन करता है उसका मैं दास हूं। जिसके चित्त में द्रव्य औरा दारा की इच्छा नहीं है उसने संसार पार कर लिया। शुभ और अशुभ से जिसको हर्ष–शोक नहीं होता वह जग में जनार्दन होकर रह रहा है। जिसने देव को देह अर्पण कर दिया, उसको फिर कुछ करना बाकी नहीं रहा।

वहीं पवित्र है जो विकल्प की जड़ उखाड़ फेंकता है। जो बाहरी ठाठ दिखाते है, वे गंदगी से भरे पड़े है। जिसकी बुद्धि त्रिकाल सावधान है, वहीं आत्म आराधना कर सकता है। जो संदेहग्रस्त है, वे प्रकृति के बंधन में हैं। जो समबुद्धि समाधान रूप है, वहीं अखंड ध्यान सच्चा है। अपना चित्त और वित्त उसके हवाले कर दो। भगवान का ध्यान अन्तःकरण में करना यही उसका मुख्य पूजन है। इसके अलावा सब उपाधियां पाप है। सहज स्वरूप स्थिति ऐसी स्थिति है जिससे कभी जी नहीं उबता। अभिमान का नष्ट होना ही योग और तप है। करना है तो यही करो। इसी से आवागमन नष्ट होगा और देहभार दूर होगा। जब तक अनुभव की मिठास नहीं चखी तब तक विधि–निषेध की माथापच्ची करनी पड़ती है। मौन–धारण कर अपनी बुद्धि को स्थिर करो। अन्तर्मुख होने से आत्मा की प्रतीति होने लगती है। युक्त आहार व्यवहार हो, इंद्रियों पर नियमन रहे, बहुनिद्रा और बहुभाषण न हो। भोग से ही रोग होता है। झूठी प्रशंसा करने से वाणी गंदी होती है। इन सब के प्रति सावधान रहे।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

27. जे. कृष्णमूर्ति की दृष्टि में ध्यान

इस शताब्दी में ध्यान पर विचार करने वाले अनेक मनीषी हुए है। उन सब में किसी को गंभीर और स्थितप्रज्ञ जैसा कहा जा सके तो श्री कृष्णमूर्ति का नाम लिया जा सकता है। कृष्णमूर्ति ने इस विषय को जितनी गहराई से पकड़ा है उतनी गहराई तक बहुत कम लोग पहुंचे है।

श्री कृष्णमूर्ति का मानना था – मन सब जगह व्याप्त है। जहां जहां मन की व्याप्ति है, वहां न ध्यान हो सकता है न धर्म हो सकता है। मन चाहे आत्मा के बारे में सोचे, चाहे ईश्वर के बारे में सोचे और चाहे शराब के बारे में सोचें, श्री कृष्णमूर्ति की दृष्टि में इसमें कोई फर्क नहीं है। जहां मन का खेल है वहां सत्य उपलब्ध नहीं होता। मन के सभी खेल बंद होने पर सत्य की अनुभूति होती है। हम कालातीत हुए बिना मन के खेलों से परे नहीं जा सकते। यह ध्यान का एक दृष्टिकोण है। इसमें काफी गहरे जाने का प्रयत्न किया गया है। निःसंदेह यह ध्यान की पराकाष्ठा की स्थिति है।



श्री कृष्णमूर्ति ने मन को दो भागों में विभक्त किया– एक है बाहरी मन और दूसरा है छिपा हुआ मन। जब तक हम बाहरी मन को पकडेंगे तब तक कुछ नहीं होगा। जब छिपा हुआ मन पकड़ में आ जाएगा तब हम भावना के स्तर पर पहुंच जाएंगे।

इन सारे संदर्भों में देखे तो निष्कर्ष यही है कि मन के खेलों से परे चले जाना ही ध्यान है प्रारंभ में नये व्यक्ति के लिए निर्विकल्प अवस्था में रहना कठिन है। फिर भी निर्विचार अवस्था में प्राप्त करना ध्यान का मूल लक्ष्य है। श्री कृष्णमूर्ति ने ध्यान के साधक की आरे इशारा करते हुए निर्विचार ध्यान की पद्धति प्रस्तुत की।

सन्दर्भ ग्रंथ : भेद में छिपा अभेद

प्रस्तुति : आचार्य महाप्रज्ञ

योगशिखा

योग की जलती है जब ज्योति–शिखा
जल जाता सब कर्म का लेख लिखा।
साफ हो जाता है हृदय पट।
नहीं रहती कुछ खट–पट।
विकट भी हो जाता अविकट।
लगती अन्तर से रट।
देखा जा सकता फिर आर–पार झट।
आ जाता भाव का तट निकट।
अनुभव उत्कट।

- मुनि शुभकरण

28. "महर्षि रमण की दृष्टि में ध्यान"

जन्म : 1879 **देहत्याग : 1950**

महर्षि रमण सदैव "चुप" रहने वाले ध्यान–योगी थे। उन्होंने ध्यान की कठोर साधना की। बचपन से ही उनकी अभिरूचि आत्मा का साक्षात्कार करने की थी। साधना की बैचेनी और उसका अभ्यास उन्हें मंजिल तक पहुंचाने में सफल हुआ। महर्षि आत्मज्ञान को सर्वाधिक महत्व देते थे। उनका चिन्तन था–

'जहां मत का भी लोप हो गया, वैसी निद्रावस्था में हम जो नित्य, शाश्वत सुख की अनुभूति करते हैं, उसे पाने के लिए आत्मज्ञान की आवश्यकता है।'

यानी आत्मज्ञान के बिना मत–पंथ, मान्यताएं, धारणाएं समाप्त नहीं होती। आत्म–ज्ञान के लिए "मैं कौन हूं ?" इसके ज्ञान का चिन्तन ही एक मात्र साधन है। महर्षि रमण की साधना का यह प्रमुख सूत्र था। जब भी उनके पास कोई साधना की जिज्ञासा लेकर आता तो महर्षि इतना ही कहते कि तुम अपने आपसे यह पूछो कि मैं कौन हूं ? प्रायः व्यक्ति दूसरों से पूछता फिरता है कि "मैं कौन हूं" ? यह प्रश्न स्वयं के द्वारा स्वयं को करना है। वे कहते थे– "मैं कौन हूं कि विचारणा से मत का लोप हो जाता है। इसका स्मरण करने से अन्य सभी विचार नष्ट हो जाता है और अंत में मैं कौन हूं यह विचार भी नष्ट हो जाते है।" विचारों का सिलसिला एक आम समस्या है। महर्षि रमण के अनुभव से उसको समाप्त करने के लिए एक ही चिन्तन करो "मैं कौन हूं?" चिन्तन करते करते सब विचारों के कांटे दिमाग से निकल जाएंगे फिर कांटा निकालने वाला कांटा "मैं कौन हूं" भी निकल जाएगा। यही आत्मज्ञान पाने का मार्ग है, साधना है।

किसी ने रमण से पूछा कि सच्चा तप क्या है ? उत्तर में रमण बोले – अहं की स्फूरणा जहां से उत्पन्न होती है, उसी का ध्यान करो तो मन उसी में लयकों प्राप्त होगा वहीं सच्चा तप है। मंत्र जपते समय मंत्रों का नाद जहां से फूटता है, उसी का ध्यान धरो तो मन उसी में लय होगा, वही सच्चा तप है।

एम जर्मन विचारक एफ.एच. हम्फ्रीस ने पूछा– दुनियां का उपकार करना चाहता हूं, उसके लिए क्या करूं ? रमण बोले – पहले अपना उपकार कर लों, उससे दुनिया का उपकार अपने आप हो जाएगा। विचारक ने कहा – अपना उपकार करना कठिन है, मैं तो दुनिया की सेवा करना चाहता हूं। रमण बोले क्यों नहीं हो सकता ? अपनी सहायता करने में आप दुनिया की सहायता करते है। आप दुनिया का एक अंग है। न आप दुनिया से अलग है और न दुनिया आप से अलग है। कहने का तात्पर्य ये है कि – आत्म कल्याण के बिना पर कल्याण धोखा है। स्वयं को सच्चे मार्ग पर लाएं बिना दूसरों की सहायता खतरनाक है। परमार्थ को साधे बिना परार्थ का उद्धार करने की सोचना मूल में ही भूल हैं।

पुनः हम्फ्रीस ने पूछा – "कृष्ण और ईसा की तरह मैं भी करामतों कर सकता हूं ? रमण ने कहा – करामतों के चक्र में मत पड़ो। आत्म समर्पण के द्वारा परम पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए प्रयत्न जारी रखें।

किसी के पूछने पर महर्षि रमण ने कहा – ध्यान के समय जो विचार धारा जान पड़े, उसे अभ्यास द्वारा जारी रखना चाहिए। उसी धारा में रहकर अपना सब काम करते रहना चाहिए।

साधकों के लिए उनकी प्रेरणा थी – " एकान्त में शांत बैठकर विभिन्न मानसिक क्रियाओं, वृत्तियों, भावनाओं आदि का अध्ययन करो। आन्तरिक मानसिक दुनिया का अध्ययन विशेष आनंददायक होगा। घबराना नहीं, अन्तर युद्ध में निश्चित विजय होगी।"

इस प्रेरणादायी संदेश में रमण दो बातों पर बल दे रहे है – एकांत और आत्म निरीक्षण। एकांत में स्वयं का निरीक्षण संभव हो सकता है। भीड़ में हम सदा दूसरों को देखते हैं।

ईश्वर के बारे में पूछे जाने पर एक जर्मन विद्वान ने परमात्मा की खूब लम्बी–चौड़ी व्याख्या की। उनकी व्याख्यता से सभी लोग प्रभावित हुए। महर्षि रमण शांत भाव के सुनते रहें। फिर किसी ने उन्हें पूछा – आपका क्या मत हैं ? रमण बोले – जय तुम यह भी नहीं जानते कि तुम कौन हो ? तब अन्य सब वस्तुओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने का क्या उपयोग। स्वयं के सिवाय जानने योग्य क्या है ? अपनी आत्मा की खोज करो, अपने को जानो। परमात्मा की व्यर्थ चर्चाएं करना लाभकारी नहीं है।

इस प्रकार महर्षि रमण की साधना के सार सूत्र है – आत्मा को जानो। आत्मा को जानने के लिए मौन आवश्यक है। मौन के लिए एकांत में बैठो। एकांत में बैठकर आत्म–निरीक्षण करो कि "मैं कौन हूं" ऐसा करने से विचार विराम लेंगे। उसी निर्विचार क्षणों में आत्मा का बोध होगा। आत्म बोध के पहले दूसरों को बोध देना उचित नहीं है, यही ध्यान का मर्म है।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

योग

मैं योग को नमस्कार करता हूँ।
इसलिये कि उसमें,
मानवता का सन्देश निहित है।
मनीषियों द्वारा विहित है।
मुक्त चेतना का सदन है।
सौहार्द का उपवन है।
ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य और कदाग्रह का
जिसमें नहीं है स्थान।
वही है परम निर्वाण, महायान।

कल्पना करना सीखें। बड़ी कल्पना के बिना कोई बड़ा काम नहीं किया जा सकता। ध्यान के समय कल्पना शून्य रहना अच्छा है किन्तु व्यवहार के क्षेत्र में कल्पना के बिना काम नहीं चल सकता। इसका निष्कर्ष है कि साधनाकाल में निर्विकल्प रहना अच्छा है और व्यवहार काल में कल्पना आवश्यक है।

– आचार्य महाप्रज्ञ

29. "गुरु नानक की दृष्टि में ध्यान"

जन्म : 1469 **निधन : 1539**

गुरु नानक सिक्ख धर्म के संस्थापक थे। उनके उपर परमात्मा की कृपा बरसी और छोटी उम्र में वे परमात्मा के मार्ग पर चल पड़े।

गुरु नानक के अनुभव का मूल सूत्र है – "इक ओंकर सतनाम।" ये पूरा अस्तित्व एक ॐकार नाम में ही समाया हुआ है। पूरे अस्तित्व में उसी की ध्वनि है। वे कहते थे– तीरथि नावा जे तिसु भावा, विणु भावे कि नाइ करी।" यानि जो उसे (परमात्मा को) भा गया, जो परमात्मा का हो गया तो समझो उसने सारे तीर्थों में स्नान कर लिया। बिना परमात्मा का हुए, आप कुछ भी करो, वह न करने के बराबर ही है।

ध्यान के संबंध में नानक कहते हैं – नानक कथना करडा सारु।" ध्यान और परमात्मा के संबंध में कहना लोहे के चने चबाने जैसा काम है। ध्यान, परमात्मा की अनुभूति हो सकती, अभिव्यक्ति करना असंभव है। क्योंकि परम तत्व शब्दों से परे है। उसकी अनुभूति के लिए नानक कहते है– पंचा का गुरु एक धिआनु।" यानि पांचों इन्द्रियों का गुरु एक ध्यान है। ध्यान मालिक है, इन्द्रियां उसकी सेवक है। उस ध्यान के अभ्यास के अभाव में आज सेवक मालिक बन बैठा है और मालिक कहाँ है उसका पता नहीं।



नानक ने कहा कि – हरि को पाने के लिए स्वयं की पहचान जरूरी है। उनके शब्द है – "आप पहिचाने हरि मिले। बहुरि मरना न होवै। जो अपने को पहचान लेता है उसको फिर बारबार नहीं मरना पड़ता।

नानक ने जीवन को चार खण्डों में विभाजित किया है। पहला खण्ड है – धर्म (स्वभाव), दूसरा है– ज्ञान (होंश), तीसरा है– लज्जा (विनम्र, शून्य हो जाना) और चौथा है – कृपा (उस परम की अनुकम्पा को भीतर में उतरने देना)। जब इन चार खण्डों की साधक साधना कर लेता है तो मंजिल मिल जाती है।

मंजिल को पाने की साधना करने के लिए नानक भी गुरु को अपनाने पर बल देते हैं। सच्चे गुरु की परिभाषा करते हुए नानक ने कहा – 'पवणु गुरु'। जो पवन की तरह पावन है, पवित्र है, निःसंग है वह सच्चा गुरु है। पवन यानी हवा को मुट्ठी में बांधना असंभव है। उसी प्रकार जो समाज के यश, मान, पद–प्रतिष्ठा की मुट्ठी में न बंधे वही सच्चा गुरु हैं। ऐसे गुरु के प्रति समर्पण भाव से साधना करने पर साधक सिद्धि के द्वार तक पहुंच जाता है।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

"जो अपने आपको नहीं जानता वह बाहर से सब कुछ पाकर भी खाली है। और जो अपने आपको पहचान लेता है वह बाहर से अकिंचन होकर भी भीतर से समृद्ध है।"

– आचार्य महाप्रज्ञ

30. ज्ञानी कवि "अखा" की दृष्टि में ध्यान

ज्ञानी कवि "अखा" आलौकिक आनंद की यानी सत्–चित–आनंद के साथ जुड़े हुए आनंद की बात करते थे। परमात्मा की गंध का उन्हें अनुभव हो चुका था। वर्षों से वे परम तत्व की खोज में थे। उसके लिए उन्होंने काफी परिश्रम किया। सुनार थे, इसलिए उन्हें ठीक–ठीक ख्याल था कि सुवर्ण की अशुद्धि को दूर करने के लिए उसे भट्ठी में गरम करना पड़ता है, उसी प्रकार अपने भीतर रहे हुए मल को दूर करने के लिए उसे साधना रूपी अग्नि में डालना पड़ता है। ये सब उन्होंने किया। परिणाम स्वरूप परब्रह्म की अनुभूति सामने आकर खड़ी हो गई। फिर अणु–अणु में आनंद फैल गया। उन्होंने स्वयं गाया है–

आज आनंद मारा अंगमां उपज्यो
परिब्रह्म नी मुंने भाड़ लाधी,
गूंगानी सानमां सामो समजे नहि,
अदबद मुठड़ी रही रे बांधी
कोई तीरथ अडसठ करे, देवदेरां फरे,
खट मारगमां रे जागे साधी,
तेरे ब्हालो मुज पास थी प्रगट्यो
सद्‌गुरु शब्द नी चोट लागी,
कोई कहे जीव छे, कोई कहे शिव छे,
थाप उथापमां कोई न सीध्यो,
आप ते आपनो अमीरस घूंटवा,
शिव ते जीवनो वेश लीधो,
हाथ थी नाखी ने दूर लेवा गयो,
जाणे शुं वस्तु नव होय आघी,
आवी अज्ञान नी आड़ उभो रह्यो,
तारे माटे तुं जोने जागी,
हुं टड्यो, तुं ठर्यो करतार करूणा करी,
सुख–दुःख वृक्षनी मूली दाझी,
सुपन समाइ गयुं, ज्यम् हतु त्यम थयुं,
अखो आ लखी सूतो सुखनी गादी

आत्मा की अनुभूति को अभिव्यक्ति देना ठीक वैसा ही कठिन है, जैसे गूंगा शक्कर के बारे में क्या कहे ? अखा के भीतर कुछ प्रकट हुआ था। सामने खड़े व्यक्ति की मुट्ठी संशय के कारण बन्द रहती है। बंधन से छुटने के लिए कोई तीर्थ यात्रा करते है, कोई देव–मंदिरों में जाते है, छः शास्त्रों का अभ्यास करते है या फिर साधना के भिन्न–भिन्न मार्ग अपनाते हैं। ऐसा कुछ भी करने से क्षणभर की शांति मिल सकती है स्थिरता आ सकती है, किन्तु परब्रह्म की अनुभूति नहीं हो सकती। उपनिषद जैसे कहता है, जिसके उपर परम तत्व परिपूर्ण कृपा करता है, उसी को उसकी अनुभूति होती हैं।

ज्ञानी कवि अखा ऐसे ही अधिकारी थे। इसलिए परमात्मा उनके भीतर ही प्रकट होते है। अंदर के गुरु का शब्द वे पा लेते है। वे "चोट" लगी ऐसा शब्द प्रयोग करते है। चोट यानी आघात, प्रहार, निशान। गुरु की परावाणी की चोट उनके उपर साधारण नहीं हुई थी। ये चोटे इतनी गहरी थी कि भीतर की धातु बदल गयी। सच्चाज्ञान प्रकट हो गया। जौ जैसा है, अब वह वैसा ही दिखने लगा।



यह चेतन शक्ति को कोई जीव के रूप में बताते है तो कोई शिव के रूप में। एक व्यक्ति जिस मत का प्रतिपादन करता है, दूसरा व्यक्ति अपने वाद–विवाद द्वारा उसका खण्डन करता है। बुद्धि से कभी भी परम तत्व की पहचान संभव नहीं है। ये साधन वहां छोटा पड़ता है। अतः बुद्धि के स्तर पर जीने वाले जीव कभी सिद्धि को पा नहीं सकते। पंड़ितों का इसमें काम नहीं है।

ज्ञानी कवि अखा निर्गुणोंपासक थे। वे हमारी मुर्खता की ओर इशार करते हुए कहते है – हाथ थी नाखी ने दूर लेवा गयो, जाणे शुं वस्तु नव होय आघी। कोई मनुष्य अपने हाथ से स्वयं वस्तु को दूर फेंके और सोचे कि वस्तु दूर है, उसी प्रकार मन–बुद्धि मान लें कि परमात्मा मेरे भीतर है ही नहीं, कहीं बाहर मंदिर–मस्जिद, देवालय, साधु–संत–महात्मा के पास में बसते है और फिर उसे खोजने निकले बाहर, कस्तूरी मृग की भांति।

परमात्मा कहीं और है, ऐसी मान्यता हमने स्वयं ही निर्मित की है, फिर बहिर्मुख रहकर जगत में ही उसे

खोजता फिरता है। वास्तव में यदि परमात्मा अपने में नहीं है तो फिर कहां होंगे ? इसलिए सच्चे साधक को ऐसा निर्णय करना ही पड़ेगा कि वह मेरे अणु–अणु में स्पंदित है। मैने मेरे ही सामने जो दिवार खड़ी की है, उसको मुझे ही गिराना पड़ेगा। ये अज्ञान की दिवार है। जो सचेत, जागरूक हो गया है, वह स्वयं निश्चय कर सकता है कि मैं स्वयं ब्रह्म हूं। शिव हूं। आत्मा हूं। यह निश्चय होने के बाद मैं–मेरे का भाव नहीं रहता। फिर द्वेत कहाँ ? फिर निरन्तर आनंद ही आनंद है। परमात्मा की अपार करूणा का निरंतर अनुभव होता रहता है। फिर सुख–दुःख के समग्र द्वन्द्वों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। परम सत्य समझ में आने के बाद स्वप्न विलीन हो जाता है। जो जैसा है, वह उसी रूप में दिखने लगता है। अखा इतना लिखकर परम तत्व की गुदड़ी में सुख की नींद सो गया।

अखा कहता है कि केवल तिलक करने से, माला, फेरने से, तीर्थ यात्रा करने से, या कथा सुनने मात्र से अज्ञान मिट जाए, जरूरी नहीं है। ब्रह्मज्ञान प्रकट न हुआ तो ये सब व्यर्थ है। लिखा है –

तिलका करतां त्रेपन थयां, जप मालानां नाकां गयां,
तीरथ फरी फरी थाक्या चरण, तोय न पहुँचे हरिने शरण,
कथा सुणी सुणी फूट्या कान, अखा तो य न आव्यूं ब्रह्मज्ञान।

कवि अखा मन को समझने पर विशेष बल देते है। मन को न समझने के कारण आवरण बना ही रहता है। लिखा है –

भुवन त्रण स्फुरण मन तणुं,
ज्यम् सूर्य कारण रेणीदिन तणुं,
सूर विना नोहे दिनरात,
त्यम मन विना कोण देखे भात ?
अखा ते मनने जे लहे,
त्यारे सहजे परम कारण रहे।

मन की स्फुरणा में स्वर्ग, मृत्यु एवं पाताल ये तीनों को भुवन में गिना गया है। रात्रि एवं दिन होते रहते है, ये सूर्य के कारण है। सूर्य के अभाव में रात–दिन संभव नहीं है। उसी प्रकार मन के बिना वृत्तियों के प्रकाश एवं वृत्तियों की चाल कौन देख सकता है ? बंधन–मोक्ष के कारण रूप इस मन को जो व्यवस्थित समझ ले तभी अंधकार का वलय मिटे एवं ज्ञान प्राप्त हो। सत्संग द्वारा मन की पहचान हो सकती हैं।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

मित्र मिलना मुश्किल है। मित्र वास्तव में वह होता है जो सही परामर्श देता है। एक व्यक्ति चिन्तनशील है और बहुत चिन्तनशील है फिर भी परामर्श की अपेक्षा रहती है। दूसरे के चिंतन के दर्पण में अपने चिंतन की आकृति को देखने का अवसर मिलता है। उसके सौन्दर्य और भद्दापन के अंकन का मौका मिलता है। अपने चिंतन का अहं न हो तभी दूसरे के चिंतन का मूल्य आंका जा सकता है।

– आचार्य महाप्रज्ञ

31. "लाओत्सु की दृष्टि में ध्यान"

जन्मः ई.पूर्व ६०४ मृत्यु :

लाओत्सु के पंथ का नाम था – ताओ यानी स्वभाव। उनके गुरु थे – मोत्सु। लाओत्सु चीन के बहुत बड़े साधक एवं तत्व चिंतक थे। लाओत्सु ने सत्य के बहुत गहरे अर्थ उद्घाटित किये।

उनका वचन है – जितना ज्यादा तुम्हारे पास होगा, उतने ही अधिक तुम मुसीबत में रहोंगे। लाओत्सु की पूरी किताब का सार इन तीन सूत्रों में समाया हुआ हैं –

१. ताओ (स्वभाव) का जो अनुगमन करता है, वह ताओ के साथ एकात्मक हो जाता है।

२. जो आचार सूत्रों पर चलता हैं, वह आचार सूत्रों के साथ एकात्मक हो जाता है।

३. ताओ का जो परित्याग करता है, वह ताओ के अभाव से दुःखी हो जाएगा।



ताओं के साथ एक होंगे तो ताओ भी प्रसन्न होंगे और आप भी प्रसन्न होंगे। आचार सूत्रों के साथ जो एकात्मक होता है तो आचार सूत्र प्रसन्न है, आप उतने प्रसन्न नहीं है। ताओं के अभाव से ताओ प्रसन्न है, आप दुःखी हो जाओगे।

लाओत्सुन ने कहा –जो खोजता है, वह खो देगा। अगर पाना है तो पाने की कोशिश मत करो। जो भीतर है उसे पाने के लिए विश्राम के सिवाय और कोई उपाय नहीं है। श्रम से उसे पा सकेत हो जो हमारा नहीं है। एक आदमी को दूसरे के घर जाना हो तो चलना पड़ता है, किन्तु स्वयं के घर में बैठा हुआ आदमी अपने घर जाने के लिए प्रयास करेगा तो भटक जाएगा। श्रम करने से स्वयं को नहीं पा सकते, पराए को पा सकते हैं। अतः खोजो मत, ठहरो।

लाओत्सु ने कहा – जो जानता है, वह बोलता नहीं और जो बोलता है वह जानता नहीं है। जो जानता है, जिसे स्व का अनुभव है, वह अभिव्यक्त नहीं कर सकता। इसलिए वह बोलता नहीं है। बोलता वही है, जिसे सत्य का अनुभव नहीं है। उन्होंने यह भी कहा कि दूसरों को जानने वाला विद्वान होता है एवं स्वयं को जानने वाला ज्ञानी होता है।

लाओत्सु का प्रसिद्ध सूत्र है – जो सत्य है वह लिखा नही जा सकेगा। जो लिखा जाएगा, समझना वह सत्य नहीं है। सत्य अनुभूति का विषय है। अभिव्यक्ति का नहीं।

ताओ धर्म में, जानबूझ कर कुछ करना गलत माना गया है। वहां कुछ करना नहीं है, सब काम अपने आप होते चले जाते है। उसका नाम अकर्म है, जिसमें न कोई कामना है, न कोई पाने के लिए प्रयत्न। इस सच्चाई को समझने के लिए उन्होंने एक अवसर खोजा। वे शिष्यों के साथ जंगल से गुजर रहे थे। मार्ग में देखा कुछ लोग पेड़ काट रहे थे, पास में एक बड़ा पेड़ खड़ा था। वह उनके निशाने में नहीं था। आलोत्सु ने कहा – तुम जाओ और उनसे पूछो कि इस बड़े पेड़ को क्यों नहीं काट रहे हो ? शिष्य गये। वही प्रश्न पूछा। उत्तर में उन सुथारों ने कहा – उसमें बड़ा मर्म निहित था। यह वृक्ष लाओत्सु है। शिष्यों की समझ में नहीं आया। वे गुरु की शरण में आएं। गुरु से रहस्य पूछा। गुरु ने कहा – इसमें ध्यान का राज छिपा है। जैसे मैं कोई प्रयत्न नहीं करता, वैसे यह वृक्ष भी। यह वृक्ष न सीधे होने का प्रयत्न करता है, न टेढ़े होने का। जो कुछ होने का प्रयत्न करता है, वह काटा जाता है। बस, तुम जीवन में अकर्ता बन कर जीओ, यही ध्यान का राज है।

लाओत्सु ने कहा – मुझे आज तक कोई हरा नहीं सका। पूछा क्यों ? तो कहा कि मैंने कभी जीतने का प्रयत्न ही नहीं किया। फिर कैसे मुझे हराया जाएं। जो आगे बैठने की कोशिश करते है, उन्हें उठाया जाता है। पीछे बैठने वालों को कौन, क्यों उठायेगा ?

उन्होंने कहा कि जो सद्गुण आपको आनंद न देता हो, वह आपके लिए फोड़ा है। उन्होंने कहा कि पांडित्य को छोड़ो, तो मुसीबतें समाप्त हो जाती है। सज्जन

दुर्जन का गुरु है। दुर्जन सज्जन के लिए सबक है। दुर्जन व्यक्ति से अवश्य कुछ सीखना मगर उसका अनुकरण मत करना।

इस प्रकार लाओत्सु पांडित्य को नही, आत्म अनुभव पर बल देता है। वासना एवं कामना प्रेरित नहीं किन्तु निष्काम कर्म की प्रेरणा देते है। ध्यान के लिए कुछ करना नहीं है, स्वयं में ठहर कर जो मौजूद है, उसका अनुभव करना है। अपने असली स्वभाव को स्मरण करना ही ध्यान का मूल बोधपाठ है।

प्रस्तुति समण : श्रुतप्रज्ञ

अपने को बदलना है

दर्पण को मत तोड़ो।
चेहरे को भी मत मोड़ो।
अपनी कुरूपता को छोड़ो।
दर्पण चेहरे का प्रतिनिधि है।
मन भावों का प्रतिनिधि है।
स्वाध्याय भावों को पढ़ना है,
अपने को बदलना है।
देखो और यथार्थ को स्वीकार करो,
आनन्द का वरण करो।

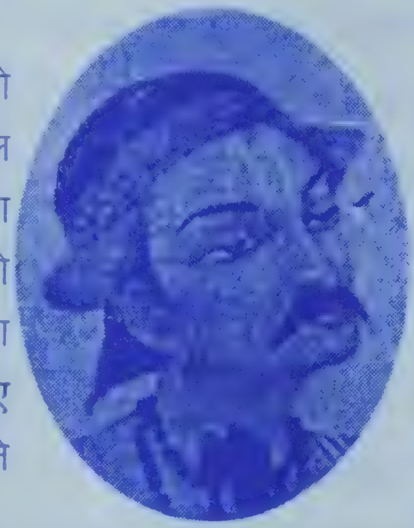
भेद विज्ञान जितना आध्यात्मिक है उतना ही व्यावहारिक है। तुम आत्मा हो। आत्मा में न कोई कलह है, न कोई झगड़ा है, न कोई ईर्ष्या है, न कोई द्वेष है। जब जब तुम शरीर में जाते हो, अपने को देह मान लेते हो, तब कलह भी होता है, झगड़ा भी होता है, ईर्ष्या भी होती है। "मैं शरीर नहीं हूं आत्मा हूं" बार-बार इसका चिन्तन करो, आत्मा में रहो। मन की शान्ति, चित्त समाधि सहज सध जाएगी।

— आचार्य महाप्रज्ञ

32. "भक्त कवि नरसिंह मेहता की दृष्टि में ध्यान"

जन्मः ई.पूर्व 1410 से 1480

अपने देश में जितना नाम स्मरण होता है उतना दुनिया के किसी कोने में शायद न होता होगा। फिर भी अपने यहां तमोगुण प्रधान जड़ता जितनी है, उतनी कहीं नहीं। अध्यात्म का वैभव मिलना सद्‌भाग्य है किन्तु उसका मूल्यांकन किए बिना उसे अंधदृष्टि से स्वीकार कर लेना बहुत बड़ा दुर्भाग्य है। अपने यहां साधना के इतने सारे मर्मभेदी मार्ग विकसित हुए है कि वे सब शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान को भी नयी दिशा दे सकता है, किन्तु काल की धूल की निर्जरा करके इन चमकते रत्नों को परखने एवं पहचानने की दृष्टि का अभाव है।



करोड़ो मंत्र के जाप एवं चौबीसों घंटो अखण्ड आराधना के बावजूद कोल्हू के बैल जैसी हमारी स्थिति हो रही है। मंत्र आराधना से भी भीतर में कुछ जगा कि नहीं, उसको छोड़कर हम संख्या की गिनती कर सीना फूलाना हमारा स्वभाव बन गया है। इसीलिए गुजरात के प्रसिद्ध भक्त नरसिंह मेहता अपने प्रभातियां में गाता है–

ज्यां लगी आतमा तत्त्व चीन्यो नहीं,
त्यां लगी साधना सर्व जूठी,
मानुष देह तारो एम एड़े गयो,
मावठानी जेम वृष्टि वूठी।

जिस नाम स्मरण या ध्यान साधना से हम अपने आत्म तत्व का साक्षात्कार न करें और हमारा देहभाव नाश न हो, वह साधना जूठी है। बीज बोए तो अंकुर फूटना चाहिए। हमारी अंतर भूमि में भी नाम या प्रकाश प्रस्फुटित होना चाहिए। ऐसी साधना ही सच्ची साधना है।

ऐसी साधना करने वालों को, लोग अवरोध पैदा करेंगे, बाधा खड़ी करेंगे। नरसिंह मेहता कहते है – नारायणनुं नामज लेतां, वारे तेने तजिये रें, मनसा, वाचा, कर्मणा करीने लक्ष्मीवरने भजिये रे।" यानी आत्मा साधना में नारायण का नाम लेने में जो मना करे उनसे साधक को किनारा कर लेना चाहिए, उन्हें त्याग देना चाहिए। वे यहां तक कहते है कि कुलने तजिये कुटुम्ब ने तजिये, तजिये मा ने बाप रे। उसके लिए साधक कुल, परिवार, मां–बाप आदि सभी का त्याग करने में डरना नहीं चाहिए। भक्ति पहले है, संसार के संबंध बाद में। उदाहरण दिया – प्रथम पिता प्रहलादे तजिया, न तजियुं हरिनुं नाम रे। प्रहलाद ने भगवान के भजन के खातिर अपने पिता का त्याग कर दिया।

नरसिंह मेहता उस साधना की विधि बताते हुए कहते हैं –

नेत्र विण नीरखवो, रूप विण परखवों,
वण जिह्वाए रस सरस पीवो।

भगवान की भक्ति में इन्द्रियों की वासना बंधन है। इन्द्रियां, यह रस पीने नहीं देती हैं। क्योंकि सभी इन्द्रियां बाहर खुलती है। भीतर जाने में यह बाधक है। इसलिए बिना नेत्रों के उस भगवान को देखो। यानी आंखों का संयम कर उसे देखो। बिना रूप के उसे पहचानो। बिना जीभ के उस परम तत्व के रस का पान करो।

नरसिंह मेहता का प्रसिद्ध गीत जो महात्मा गांधी के आश्रम में नित्यगुण गुनगुनाया जाता था –

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर पराई जाणे रे,
पर दुःखे उपकार करे ताये, मन अभिमान न आणे रे।
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे,
जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर धन नव झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहीं जेणे, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे,
रामनाम शुं ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे।
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे,
भणै नरसैयों तेनुं दरसन करतां कुल एकोनेर तार्या रे।।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

33. "योगी आनंदधन की दृष्टि में ध्यान"

आनंदधनजी जैन परम्परा में जन्मे थे। किन्तु उनकी दृष्टि "जिन" बनने पर केन्द्रित थी। जिन वह होता है जो स्वयं को जानता है, स्वयं को जीतता है। जैन कहलाना सिर्फ परम्परा का निर्वाह करना है, जिन बनना एक साधना है, और साधना के लिए परम तत्व के प्रति जीवन का परम और बेशर्त समर्पण चाहिए।

आनंदधन के स्तवन अद्भूत है। अद्भूत इस अर्थ में की इन स्तवनों में परम्परा की गंध नहीं है, किन्तु अध्यात्म का अनुभव है। ऐसे ऋषि को भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। अंतर में से उद्भूत वाणी का परम सौन्दर्य स्तवनों में सहज झलकता है। इन स्तवनों में आंनदधनजी ने आत्म साधना की क्रमिक प्रक्रिया बहुत वैज्ञानिक दृष्टि से बतलाई है। उनके स्तवनों का सार सूत्र इस प्रकार है –

● परमात्मा के दर्शन के लिए आत्म समर्पण पहली शर्त है। जो ममत्व एवं मेरे के भाव से मुक्त नहीं है वे अपने सच्चे स्वरूप को नहीं पा सकता।

● जो बहिरात्मा को त्याग कर अन्तरात्मा में तनमय हो जाता है, वही परमात्मा को पा सकता है। बाह्य वस्तु में लीन–बहिरात्मा, अन्तरंग विशुद्ध करें एवं ज्ञानमय चेतना में आत्मभाव जगाये–अन्तरात्मा, सब कर्मो को क्षयकर सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करें वह परमात्मा।

● नाम–अध्यात्म, स्थापना–अध्यात्म एवं द्रव्य अध्यात्म का उल्लेख करते हुए वे कहते है– कोई अध्यात्म नाम का निरंतर रट करते है, कोई अध्यात्म की स्थापना करते हैं एवं कोई द्रव्य क्रिया करते हुए क्रियाकांड में डूबे रहते है, फिर भी यदि आत्मा को न जाने तो यह सब व्यर्थ है। इन तीनों का विरोध कर आनंदधनजी भाव अध्यात्म का आदर करते हैं। जहां आत्म स्वरूप का ध्यान होता हो वही सच्चा आध्यात्मिक समझना चाहिए।

● आनंदधनजी साधना के लिए तीन सूत्र देते है– विषय–कषाय को मंद रखना, परिणामों में निर्मलता रखना एवं निष्कर्म होना यानी कर्म के फल की आकांक्षा नहीं रखना।

● व्यक्ति के वेश का आत्मज्ञान के साथ संबंध नहीं है। वे कहते है – जो आत्मज्ञानी है वही श्रमण है, शेष सब केवल वेशधारी है।

● जड़क्रियावादी सम्यक् समझ के अभाव में चार गति में भटकते है। कुछ गच्छ, भेदों में इतना ममत्व रखते है कि तत्व को भूल जाते है। सच्ची सेवा के लिए सम्यक्त्व चाहिए। देव, गुरु, धर्म की प्रतीति प्राप्त करनी चाहिए। सूत्र के अनुसार क्रिया करनी चाहिए। सापेक्ष वचन बोलना चाहिए। ऐसा होने पर ही परमात्मा की बंदगी संभव है।

आनंदधन का संदेश है – शांतिप्रिय व्यक्ति दृढ़ आस्था वाले होते है। दुर्जनों के संग से दूर रहता है। सच्चे गुरु की परम्परा का अनुसरण करने वाला होता है। चित्त में योग का भाव रहता है। मान–अपमान, निंदा–स्तुति समान लगते है। मोक्ष और संसार दोनों के प्रति निस्पृह भाव होता है। निरंतर आत्मभाव में स्थिर रहता है। सभी संबंध संयोग मात्र है, सच्चा संबंध आत्मा का है, ऐसा जानते है।

आनंदधनजी ने बहुत सारे आध्यात्मिक पदों की रचना भी की है। आनंदधन ने एक पद में साधक के लिए जागृत रहने की प्रेरणा दी है। मार्ग में आने वाले विघ्नों की चर्चा भी की है। गाया है –

क्या सोवे तन मठ में ?
अवधू, क्या सोवे तन मठ में ?
जाग, विलोकन घट में,
अवधू, क्या सोवे तन मठ में।
या तन की परतीत न कीजे, ढही परे एक पल में,
हलचल मेट खबर ले घटकी, चिन्हे रमता जल में।
मठ में पंचभूत का वासा, सासा धूर्त खवीसा,
छिन-छिन तोहि छलनकु चाहे, समजे न बौरा सीसा।
सिर पर पंच बसे परमेश्वर, घट में सूछम बारी,

आप अभ्यास से लखे कोई विरला निरखे धुकी तारी।
आसा मारी आसन घर बैठे, अजपा जाप जगावे,
आनंदधन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावे

अवधू क्या सोवे तन मठ में ?

ओ, अवधूत, सब संबंधों को फेंक देने वाला शुद्ध आत्मा तूं इस शरीर रूपी कुटिया में निद्राधीन होकर क्यों पड़ा है ? थोड़ा, जागकर तो देख, इस शरीर के साथ बंधन की निद्रा त्यागकर अपने भीतर एक बार खोज तो कर।

तूं यह समझता है कि ये शरीर तेरा है ? उसके पर जरा भी भरोसा मत रखना। ये एक क्षण में ढह जाएगा। इस शरीर के सुख के लिए तूं दौड़ा दौड़ कर रहा है। तेरा मन तृष्णावश इधर–उधर भटकता–फिरता है। यह दौड़भाग बंद कर इस शरीर का विचार तो कर कि भीतर क्या है ? ये बहते पानी जैसा है। उसके साथ बह मत जाना किन्तु इस चंचल प्रवाह में तूं तेरे अचल स्वरूप को पहचान लें।

देख, इस शरीर रूपी मठ में पंचभूत का वास है। पंच विषयों की प्रेतात्मा उसे हिला रही है। उसमें सिर बिनाका श्वास आता–जाता रहता है। ये तो महाधूर्त है। क्षण–क्षण तुम्हें ठगता रहता है। शरीर को क्षीण करता रहता है। किन्तु तेरा मूरखमन यह वास्तविकता समझ नहीं रहा है।

यहां तक शरीर की क्षणभंगुरता, मन की मूढ़ता एवं काल की सर्वभक्षिता बताकर फिर उसमें से बच निकलने का मार्ग बता रहे है।

इस शरीर में क्यों न पंचभूत एवं खवीस का निवास हो किन्तु उससे डरने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य के सिर पंच परमेश्वर का अभयछत्र भी है। परम मुक्ति की सूक्ष्म खिड़की भी इस शरीर में ही है। जैन परम्परा में पांच परमेश्वर है – अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु। इन सबकी भक्ति से, ध्यान से, नाम जप से सर्व विनाशी काल के क्रुर पंजे से मुक्ति संभव है। इस मुक्ति की खिड़की भी भीतर ही है। अपने सत्य स्वरूप का अनुसंधान करने वाले दुर्लभ जन इस खिड़की में से अविचल ध्रुव सम आत्मा का दर्शन करते है।

आशा तृष्णा का नाश कर, अडोल आसान जमाकर यदि कोई अजपा जाप जगावें तो वह स्वयं चैतन्यमय बन जाता है, एवं परमशुद्ध तथा स्वामित्व से सुशोभित पद को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार आनंदधनजी के स्तवन, पद, स्तुति अनुभव की अमूल्य वाणी है अब हम अमर भये न मरेंगे, उनके द्वारा रचित सर्वाधिक लोक प्रतिष्ठित काव्य है :–

अब हम अमर भये न मरेंगे,
या कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यूं कर देह धरेंगे ?
राग दोस जग बंध करत है, इनको नास करेंगे,
देह विनाशी हुं अविनाशी अपनी गति पकरेंगे,
नासी जासी हम थिरवासी चोखे व्है निखरेंगे।।
मर्यो अनंतवार बिन समझयो, अब सुख-दुःख विसरेंगे,
आनंदधन निपट निकट अक्षर हो, नहिं समरे हों मरेंगे।।

उनके ग्रंथ पढ़ने वाला स्वयं को उस उच्चाई में ले जाने के लिए प्रेरित करता है। ऐसी अमूल्य सम्पदा की भेंट प्रदान करने वाले अवधूत आनंदधन को सत्–सत् प्रणाम ! उनके पथ का विवेक पूर्वक अनुगमन कर, उस स्थिति का स्वाद लेने का प्रयत्न करे। यही जीवन की परम सार्थकता का मार्ग है।

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

नैतिकता के विकास में बहुत बड़ी बाधा है क्रूरता। यदि क्रूरता की धुलाई हो जाए, करुणा जाग जाए तो नैतिक मूल्यों के विकास के लिए बहुत प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। करुणा और मैत्री अहिंसा के व्यावहारिक रूप हैं। इनके अभाव में एक ब्रह्म या अद्वैत का सिद्धांत, आत्म तुला या आत्मौपम्य का जैनदर्शन का सिद्धांत मात्र शाब्दिक घोषणा रहती है, उनका जीवन में कोई उपयोग नहीं है।

– आचार्य महाप्रज्ञ

34. "योगी गोरखनाथ की दृष्टि में ध्यान"

समग्र जीवन एक साधना है। सब कुछ करते हुए भी स्वयं को न भूलना यही सबसे बड़ा धर्म है। गोरखनाथ कहते हैं –

हसिबा, खेलिबा, गाहिबा गीत दिढ़ करी राखि अपना चित,
हसै खेलै न करे मन भंग, ते निहचल सदा नाथ के संग।

हंसो, खेलों, गाओ किन्तु अपने चित्त को दृढ़ करके रखना। हंसते हुए, खेलते हुए भी जो अपने मन को अस्थिर नहीं होने देता, अपनी वृत्तियों को अंकुश में रखता है, वह हमेशा परम शिव के साथ ही है।

गोरखनाथ ने भी एकांत को साधना के लिए अनिवार्य माना है। उनकी उक्ति है –

एकाएकी सिध नांउ होंइ रमति ते साधवा,
चारि पंच कुटुंज नांउ, दस बीस ते लश्करा।

एकाकी रहे उसका नाम सिद्ध। दो साथ रहे वह साधु। चार–पांच साथ में रहे उसका नाम परिवार और दस–बीस की भीड़ हो तो तब लश्कर।



गोरख कहते है – आदमी भीतर से मर न जाएं एवं मूल से बदले नहीं तब तक आचरण की कुंजी उनके हाथ में नहीं आती। स्थूल और जड़ दृष्टि वाले अपने शरीर की या फोटु की पूजा करवाते है। इससे थोड़े अधिक चतुर दृष्टि वाले अपने सिद्धान्त एवं वाद की पूजा खड़ी करते है। जो इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते उसे अंध माना जाता है। कृपा का सरोवर उस अभागे लोगों के लिए सूख जाता है। सच में तो अपने छोटे से बाड़े में बंद सिद्धान्तवादी विशाल जगत के विविध रस से वंचित रहते है। ऐसी पक्षपाती एवं सीमित दृष्टि रखने वालों को गोरखनाथ "खड़ितज्ञानी" कहते है। अपना स्वतंत्र चौका जमाए बिना जो निकल पड़ता है वही अखंड सत्य का आनंद पा सकता है। वे किसी का भार अपने कंधो पर नहीं लेते एवं स्वयं किसी के लिए भाररूप नहीं बनते लिखा है –

खंडित ज्ञानी खरतर बोलै, सत का सबद उछेदै,
काया के बलि करड़ा बोलै, भीतरि ततन भेदै।
महिमां धरी महिमांकुं मेट, सत का सबद बिचारी।
नान्हां होय जिनि सतगुरु खोज्या, तिन सिर की पोट उतारी।

जिसे अखण्ड सत्य का दर्शन नहीं हुआ, जो अपने मत में, वाद में, विवाद में उलझा रहता है वे खंण्डित ज्ञानी तीखी, तमतमती भाषा में बोलते है और सत्य का उच्छेद करता है। शरीर के जोर से वे कठोर वचन उच्चारते है और शरीर को ही सर्वस्व मानने वाले लोगों का अपने भीतरी तत्व में प्रवेश भी नहीं हुआ होता है।

अपने सच्चे महिमा को प्राप्त कर जो शेष महिमा को नाम शेष कर देता है। शब्द के सत्य पर जो विचार करता है, नम्र बनकर जो सद्गुरू की खोज करता है और उसी ने अपने सिर पर की कर्म की गठरी उतार दी है।

गोरखनाथ ने अनुभव पर विशेष बल दिया है, शाब्दिक पंडितों की सच्चाई भरी आलोचना की है। लिखा हैं :–

गगनमंडल में गाय वियाई, कागद दहीं जमाया,
छाछि छाछि पंडिता पीनी, सिद्धा माखण खाया।

गगन मण्डल के सहस्रार में ब्रह्मरूपी कामधेनु का निवास है। उसमें से ब्रह्मविद्या रूपी दहीं जमाया जाये और ज्ञान रूपी मंथन किया जाए तो मक्खन जैसे सार तत्व का आस्वाद मिल सकता है। पंडित केवल मुख से ब्रह्मज्ञान की बातें कर–कर के छाछ ही पीते रहे है। अनुभवी साधकों ने ही सारतत्व का आनंद लिया है।

इस प्रकार गोरखनाथ ध्यान की गहरी अनुभूतियों एवं उपलब्धियों की बातें करते है। न केवल उन्होंने बातें ही की है, वे स्वयं अनुभव सिद्ध योगी है। योग के आकाश में वे भी एक ध्रुव तारा है। उनका अनुभव, उनकी देशना हमारे लिए प्रेरणा बनें, हम भी प्रयोग की अग्नि से गुजर कर निखालस सोने की भांति चेतना को निर्मल बनाएं।

सन्दर्भ ग्रंथ : सहज ने किनारे (गुजराती) लेखक मकरन्द दवे

प्रस्तुति : समण श्रुतप्रज्ञ

35. अध्यात्म साधना का केन्द्र "संबोधि उपवन"

✦ संबोधि क्या है ?

संबोधि का अर्थ है सम्यक् बोध, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन। भगवान महावीर के शब्दों में – "संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोधि खलु पेच्च दुल्लहा अर्थात् जागो, क्यों सोये हो ?" यदि वर्तमान में संबोधि नहीं मिली तो अगले जन्म में वह दुर्लभ हो जाएगी।

गणाधिपति श्री तुलसी के अनुसार – "संबोधि अध्यात्म की पृष्ठभूमि है। संबोधि का अर्थ है आत्म मुक्ति का मार्ग। वे सब मार्ग, जो हमें आत्मा की सम्पूर्ण स्वाधीनता की ओर ले जाते हैं, वह संबोधि है।"

"संबोधि" के रचनाकार आचार्य श्री महाप्रज्ञ के मतानुसार– संबोधि अनन्त के यात्रा पथ का मार्ग है, दीप है, गति है, त्राण है, शरण है एवं शाश्वत साधन है।

एक शब्दों में कहें तो संबोधि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र – इस त्रिपदी की अनन्य उपासना – प्रविधि का नाम है।

✦ ध्यान योगी मुनि शुभकरणजी के विचार :-

संबोधि आत्मा है। संबोधि प्राण है, जीवन है, परम सत्य है। संबोधि के अभाव में जीवन सिर्फ परम सत्य है। संबोधि के अभाव में जीवन सिर्फ जीवन है। उसमें न सहजता है न सरसता और न समरसता है। विषमताएं असम्बोधि में पलती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, वासना, ईर्ष्या, असंबोधि का उपहार है। जीवन इससे ऊपर उठने के लिए है, ऊर्ध्व यात्रा के लिए है। प्रत्येक मानव का यह धर्म होना चाहिए।

✦ उद्देश्य

१. आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण के लिए।
२. प्रेक्षाध्यान एवं अध्यात्म योग का गहन अध्ययन, शोध एवं प्रयोग के लिए।
३. शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति एवं आध्यात्मिक विकास के लिए।
४. अध्यात्म एवं प्राच्य विद्याओं जैसे ध्यान योग, ज्योतिष्य, मंत्र, गोमूत्र चिकित्सा, पंचगव्य चिकित्सा, वनस्पति विज्ञान, आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा आदि के अनुसंधान एवं प्रयोग के लिए।
५. आचार्य श्री महाप्रज्ञजी द्वारा निरूपित प्रेक्षा–ध्यान जीवन विज्ञान, अहिंसा समवाय एवं अहिंसा प्रशिक्षण के लिए।
६. आत्म समर्पित साधक के आवास–प्रवास, भोजन एवं प्रशिक्षण का प्रबंधन संस्थान का सर्वोपरि दायित्व होगा।
७. आत्म निष्ट चेतना का अभ्युदय एवं शांतिपूर्ण समाज की संरचना संस्थान की मुख्य प्रवृत्ति हेतु।
८. जैन विश्व भारती मान्य विश्वविद्यालय लाडनूं द्वारा जीवन विज्ञान एक जैन विद्या पत्राचार का सम्पर्क एवं सूचना केन्द्र हेतु।
९. तनाव के इस युग में सम्यक् जीवन शैली के निर्माण हेतु।
१०. सर्वधर्म समवाय का प्रायोगिक साधना केन्द्र हेतु।

✦ संबोधि में आकर्षण का केन्द्र (रूपरेखा)

संबोधि उपवन साधना स्थल है। यह स्थल संबोधि का आंतरिक एवं बाह्य हेतु है। बाह्य हेतु अनेक बनते है– जैसे श्मशान ग्रह, शून्य ग्रह, वृक्ष, आकाश आदि। ये उपादान के सहायक साधन होते है। सहायक सामग्री का भी महत्व कम नहीं होता है। उसकी भी बहुत बड़ी उपयोगिता है।

संस्थान में साधकों के साधना हेतु "सिद्धालय तथा साधना निकेतन" दो आवासीय भवन बन कर तैयार हो चुके है। जिसमें संत गण एवं साधक परिवार शांत भाव से अध्यात्म की गहन साधना करते रहते है।

आध्यात्मिक ऊर्जा का विशेष अनुभव करने हेतु सुन्दर एवं एक प्राकृतिक (गोबर मिट्टी निर्मित) ध्यान कुटीर का निर्माण किया जा चुका है। जिसमें नियमित रूप से अध्यात्म के शिखर तक पहुंचने की तमन्ना

रखने वाले विशिष्ट योगी साधक इसमें साधना करते हैं।

सुन्दर विशाल संबोधि समोवसरण (प्रवचन पांडाल) बनकर तैयार है।

सामान्य साधकों के लिए ध्यान निलय (गुम्बजों) का निर्माण किया जा चुका है। जिसका बाह्य एवं आन्तरिक स्वरूप भी दर्शनीय है।

साधकों के आवास हेतु तीन कमरे एवं एक गेस्ट हाऊस भी संस्थान में निर्मित है। जिसमें अभी तक सैकड़ों की संख्या में साधक साधना कर चुके हैं। **संस्थान का मुख्य केन्द्र भी सिद्धि स्थल है** जो कि मुनि श्री विनोदकुमार जी का समाधि स्थल है।

✦ संबोधि उपवन कैसा हो ?

इस संदर्भ में आचार्य श्री महाप्रज्ञजी की परिकल्पना को केन्द्र पढ़िए – मैं सम्बोधि उपवन साधना को एक अच्छे साधना केन्द्र के रूप में विकसित होते देखना चाहता हूं। इसे एक विशिष्ट साधना केन्द्र का रूप देना है।

✦ संबोधि उपवन की स्थापना एवं स्वरूप

आध्यात्मिक चेतना से ओतप्रोत संबोधि उपवन की स्थापना। १ दिसम्बर १९९५ को शुभ मुर्हुत में हुई। समर्पित कार्यकर्ता श्री रायचन्दजी जैन (अजमेर) ने शुभ नक्षत्र में नींव का पत्थर रखकर संस्थान का श्रीगणेश किया।

शांत और एकान्त वातावरण, पवित्र पर्यावरण, गहन हरियाली का परिधान (जहां विभिन्न प्रकार के फल एवं सब्जियां उपलब्ध है) ओढे दूर–दूर तक फैले ऊंचे–नीचे पर्वत–शिखर, सुरम्य सरोवर, नदी–नालें, खुला नीला आकाश, चित्त का आकर्षण करने वाला प्राकृतिक खुला स्थान एवं हवा, भव्य प्रभात, अमृत– की वर्षा करती चांदनी राते, यह है संबोधि उपवन का नैसर्गिक अथाह सौन्दर्य, जो प्रथम दर्शन में ही समागतों को सम्मोहित कर लेती है।

दि. 25 अप्रेल 1996 को ध्यानयोगी मुनि श्री शुभकरणजी स्वामी का यहां सर्वप्रथम पदार्पण हुआ। तब से अब तक अनेकों विद्वत् साधु–साध्वियां, समण–समणी वृंद आदि ध्यान योगी संबोधि उपवन को पावन कर चुके हैं।

योग साधना और पर्यावरण के अनुरूप वास्तु शास्त्र के अनुसार निर्मित संबोधि उपवन दिनोंदिन आकर्षण का केन्द्र बनता जा रहा है।

संस्थान के परिसर में प्राकृतिक दूध, दही, घी, मक्खन, छाछ, गोबर, गौमूत्र आदि के लिए **कामधेनु उपवन** की व्यवस्था है।

✦ संबोधि उपवन की गतिविधियां :-

१. प्रेक्षा ध्यान शिविरों का संचालन किया जाता है।
२. चातुर्मास में आध्यात्मिक प्रवचन माला का आयोजन किया जाता है।
३. शारीरिक स्वास्थ्य के लिए योगा एवं प्राणायाम का प्रशिक्षण दिया जाता है।
४. मानसिक शांति के लिए श्वासप्रेक्षा का प्रयोग कराया जाता है।
५. शरीर से चेतना की भिन्नता के अनुभव हेतु कायोत्सर्ग (शिथिलीकरण) का अभ्यास कराया जाता है।
६. भावनात्मक संतुलन एवं आत्मानुभूति के लिए अनुप्रेक्षा का प्रयोग कराया जाता है।
७. ध्यान योग विषयक सद् साहित्य बिक्री केन्द्र
८. बाहर से आए हुए यात्रियों हेतु निर्धारित समय पर भोजन, जलपान एवं आवास की व्यवस्था की जाती है।
९. समय–समय पर विराट स्तर पर सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है।
१०. सभी धर्म, दर्शन, एवं कला से संबंधित विभिन्न महापुरुषों का दुर्लभ साहित्य उपलब्ध है।

✦ गत पांच वर्षों में किये गये कार्यक्रमों की सूची

१. आचार्य श्री महाप्रज्ञजी की अनुज्ञा से मुनिश्री जयचन्दलालजी के द्वारा मुमुक्षु कमलेश को मुनि दीक्षा स्वीकार कराई। जिसमें मुनि श्री शुभकरणजी के सान्निध्य में मुनि श्री विनोद

कुमार जी द्वारा किये गये संयोजन का दृश्य ऐतिहासिक एवं अद्भूत था। जिसे १५००० लोगों ने अपने आंखों से निहारा।

२. मैत्री दिवस के कार्यक्रमों में विशिष्ट संत जन एवं गणमान्य लोगों का आगमन जिसमें द्वारकाधीश मंदिर के महाराज के पुत्र वागीश राजा मुनि आदि का आगमन हुआ।

३. श्री शुभकरणजी के सान्निध्य में सन् १९९५ से २००१ तक छः वर्षों में प्रेक्षाध्यान शिविरों का आयोजन किया गया।

✦ संबोधि उपवन की भावी योजनाएं

१. साधना निकेतन (साधक आवास भवन) का द्वितीय मंजिल का निर्माण करना है।

२. भोजनशाला का निर्माण करना है।

३. प्रवचन पांडाल को स्थायी रूप देना।

४. पेरामिड का निर्माण करना।

५. महाबोधि ध्यान सभागार का निर्माण करना।

६. आयुर्वेदिक औषधीय तथा दुर्लभ प्रजाति पेड़ पौधों का निर्माण एवं संरक्षण।

७. गतिविधियों के संचालन हेतु विसर्जन की भावना का निर्माण करना।

८. पुस्तकालय को विशाल रूप देना।

९. स्वागत कक्ष के लिए कार्यालय की व्यवस्था करना।

१०. संस्थान का एक निजी वाहन होना जरूरी है।

सन्दर्भ : सम्बोधि उपवन एक परिचय

✦ संबोधि उपवन कैसे पहुंचे ?

अरावली पर्वतमाला की तलहटी में निर्मीयमाण "सम्बोधि उपवन" उदयपुर से 90 किमी. तथा राजसमन्द से मात्र 25 किमी. उत्तर दिशा में (अजमेर की ओर) राष्ट्रीय राजमार्ग संख्या आठ के समीप अवस्थित है। गोमती चौराहा से 5 किमी. धानीन बस स्टेण्ड से पश्चिम की तरफ राजमार्ग से एक किमी. अन्दर।

प्रस्तुति : धर्मेश डांगी

ध्यान जीवन है।
मन और इन्द्रियों का संवरण है,
स्वयं से स्वयं का वरण है
अन्तर्मन का संचरण है,
चित्त का शुद्धिकरण है,
विशुद्ध व्यवहार है,
निज पर निज का शासन है
और सबका अभिवादन है।

- मुनि शुभकरण

स्वर्गीय पिताजी श्री फतहलालजी एवं
मातुश्री श्रीमती हुलासी बाई तलेसरा

की पुण्य स्मृति में...

शंकरलाल योगेश कुमार तलेसरा
प्रेमलता, भावना, डिम्पल, दर्शना तलेसरा

प्रकाश ज्वेलर्स

PRAKASH
JEWELLERS





15, New BPT Market, Nadkarni Park,
Wadala, MUMBAI - 37
© 4130130 (S), 4160918 (R)



गणपतलाल भंवरलाल दुगड़

6, कृष्ण कुंज सोसायटी, तलोद - 383215 (गुजरात)

जिला - साबरकांटा

राजकुमार मेटल रोलींग मिल प्रा. लि.

एल्युमिनियम सरकल और बरतन के उत्पादक

प्लोट नं. 16-19, बस स्टेशन के पास, मजरा रोड़,
तलोद - 383215 जिला - साबरकांटा (गुजरात)
✆ 02770 - 20001 (O), 20411 (R), Fax : 20067

राज युटेन्सिल्स प्रोडक्ट्स

प्लोट नं. 20, बस स्टेशन के पास, मजरा रोड़, तलोद - 383215
जिला - साबरकांटा (गुजरात) ✆ 02770 - 20011 (O)

जे श्री मेटल इन्डस्ट्रीज

गोपाल मील कम्पाउन्ड, तलोद - 383215
जिला - साबरकांटा (गुजरात) ✆ 20699 (O), 20009 (R)

नाकोड़ा सेल्स

शॉप नं. 1, डलाभाई भवन, जालन निवास के सामने,
जकरीया रोड़, मलाड़ (वेस्ट) मुम्बई - 400064
✆ 8822261, 8816533 (O)
8802664, 8804565 (R)

सनराइज प्रिन्टर्स, जलचक्की रोड़, कांकरोली ✆ 21904